अगस्त क्रांति और प्रति क्रांति

[समीक्षा]

मन्मथनाथ गुप्त

कल्याण साहित्य मन्दिर
प्रयाग

२३ नवम्बर, १९४६

विषय-सूची

——: ० :——

पहला अध्याय

१९४२ की क्रान्ति और उसका चरित्र

१९४२ उपद्रव नहीं

१९४२ के राष्ट्रीय संग्राम को विद्रोह, क्रान्ति तथा उपद्रव कई तरीके से वर्णित किया गया है। १९४२ के संग्राम के लिये उपद्रव शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में इतना कहकर आगे बढ़ जाना यथेष्ठ होगा कि भारतीय स्वतन्त्रता के शत्रुओं तथा साम्राज्यवाद के चापलूसों ने ही ऐसा प्रयोग कर १९४२ को नीचा दिखाने का भद्दा प्रयास किया है। अवश्य ही इस संग्राम के कारण १९४२ तथा १९४३ में साम्राज्यवाद की सुख निद्रा में बहुत जबर्दस्त व्याघात पहुँचा, किन्तु इस कारण से इस संग्राम को उपद्रव कहना उचित नहीं हो सकता। उपद्रव शब्द के सम्बन्ध में इतना ही मन्तव्य यथेष्ठ है।

नेहरू जी द्वारा विद्रोह शब्द का प्रयोग, उसका अर्थ

पंडित जवाहरलाल जी नेहरू तो इस संग्राम के लिये विद्रोह शब्द का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। १९४५ के ९ अगस्त को श्रीनगर में बोलते हुये उन्होंने कहा था कि वे '१९४२ के संग्राम के लिये विद्रोह शब्द का प्रयोग करने से शंकित नहीं हैं' विद्वान पंडित जी का यह उद्‌गार बहुत ही अर्थ पूर्ण है क्योंकि इस अगस्त के पहले

कई आन्दोलन हुये और पंडित जी ने उनके सम्बन्ध में भाषण दिया और लिखा, पर इसके पहले के किसी आन्दोलन के सम्बन्ध में उन्होंने विद्रोह शब्द का प्रयोग नहीं किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पंडित जी के मतानुसार १९४२ का संग्राम १९२१ के असहयोग आन्दोलन, १९३० तथा १९३२ के सत्याग्रह आन्दोलन और १९४० के वैयक्तिक सत्याग्रह आन्दोलन से गुणगत रूप से भिन्न था। इस प्रकार थोड़े में ही १९४२ के संग्राम की विशेषता स्पष्ट हो जाती है। इस पर हम आगे और विशद आलोचना करेंगे।

१९४२ के लिये क्रान्ति शब्द अधिक उपयुक्त

अगस्त संग्राम के लिये मैं क्रान्ति शब्द का उपयोग ही अधिक उपयुक्त समझूँगा। ऐसा मैं इसलिये नहीं लिख रहा हूँ कि किसी से अधिक व्याकुल भारत जान पड़े या किसी के हाथ से रंगमांचिक वज्र छीन लूँ। बात यह है कि विद्रोह शब्द बहुत कुछ फीका है, इससे अगस्त की घटनाराशि पर कोई रंग नहीं चढ़ता। हाँ विद्रोह शब्द से संग्राम की विराटता का ज्ञान तो होता है, पर इससे उस संग्राम के चरित्र का उद्‌घाटन नहीं होता। इसके विपरीत क्रान्ति शब्द बहुत ही भावव्यंजक है और यह विशद रूप से घटनाराशि का उद्‌घाटन करता है। आमतौर से क्रान्ति शब्द सफल विद्रोहों के लिये प्रयुक्त होता है। यहाँ पर ऐसे विद्रोहों के उन वर्गचरित्रों पर विस्तार के साथ कुछ कहने का अवकाश नहीं है जिनके कारण क्रान्ति प्रतिक्रान्ति (Counter revolution) से भिन्न हो जाती है, पर रूस का १९०५ वाला जनविद्रोह असफल होने पर भी उस विद्रोह के सम्बन्ध में क्रान्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। हम यह नहीं कहते कि एक असफल जनविद्रोह के लिये क्रान्ति शब्द का प्रयोग स्वीकृत हो जाने पर सभी असफल जनविद्रोहों के लिये यह शब्द प्रयुक्त होना चाहिये। नहीं, १९४२ के संग्राम के लिये क्रान्ति शब्द के प्रयोग

के कई बहुत जबर्दस्त कारण हैं।

क्रान्ति की विशेषता, जनता का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप

पहले देखा जाय कि क्रान्ति की ऐसी सब से बड़ी कौन सी विशेषता है, जिसके बगैर क्रान्ति हो ही नहीं सकती। ट्राटस्की क भाषा में "क्रान्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें जनता ऐतिहासिक घटनाओं में सीधे-सीधे हस्तक्षेप कर चीजों को अपने हाथों में ले लेती है। साधारण समयों में राष्ट्र वह चाहे राजतांत्रिक हो या लोकतांत्रिक जाति के ऊपर उठकर खड़ा हो जाता है और उस दिशा में जो विशेषज्ञ होते हैं अर्थात् राजा, मन्त्रीगण, नौकरशाहगण, पार्लियामेन्टवादीगण पत्रकारगण···इतिहास निर्माण करते हैं।···क्रान्ति का इतिहास सर्वोपरि इस बात का इतिहास है कि जनता अपने भाग्य-निर्माण के कार्य में जबर्दस्ती घुस आवें।" १६४२ मे भारतवर्ष में यही तो हुआ।

उल्लिखित व्याख्यान में पंडित नेहरू जी ने भी जनता द्वारा अपने भाग्य निर्माण कार्य में घुस आने का इन शब्दों में वर्णन किया था:- "यद्यपि ९ अगस्त को ही सब नेता गिरफ्तार हो गये थे, फिर भी जनता ने सरकार की चुनौती को स्वीकार कर लिया और साहसपूर्ण तरीके से तुर्की बतुर्की जवाब दिया। नेताओं की गिरफ्तारी पर गुस्सा तथा क्रोध में जनता ने बहादुरी के साथ बमबाजी, मशीनगन के गोले तथा लाठियाँ बर्दाश्त कीं। स्वतन्त्रता के लिये जो अमिट ज्वाला उनके हृदयों में धधक रही थी, वह साहसी तथा वीरतापूर्ण कृत्यों में पल्लवित हुई।"

१९४२ में जनता का प्रत्यक्ष रूप से इतिहास निर्माण

मैं बाद को चलकर १६४२ के सम्बन्ध में गान्धी जी तथा उनके शिष्यों द्वारा प्रतिपादित गुस्से और क्रोध वाले सिद्धान्त की परीक्षा करूँगा, जिसे दुनिया के कानों में बार-बार डंके की चोट पर कहा

गया है। यहाँ पर केवल इतनी ही बात जान लेना यथेष्ठ है कि अगस्त १९४२ तथा उसके परवर्ती कुछ समय में भारत की जनता ने इतिहास निर्माण के कार्य में इतने जोर से भाग लिया जितना कि इससे पहले उसने कभी नहीं लिया था। यह गौरवमय प्रयास सफलता से मंडित नहीं हो सका, पर इस घटनाबहुल युग में जनता ने इतने जोश का प्रदर्शन किया और इतना विराट सराहनीय त्याग तथा उन्मेषशालिनी बुद्धि (Initiative) का प्रदर्शन किया कि इसे क्रान्ति ही कहना उचित होगा। १९४२ का संग्राम इस माने में भी क्रान्ति थी कि इसमें भारतीय जनता ने मध्ययुगीन निद्रा से जगने के बाद अपने लिये नये मार्गों की, संग्राम के अनुसार मार्गों की, ऐसे मार्गों की जिनके सम्बन्ध में नेताओं ने कुछ न बताया था, बल्कि उनके द्वारा निश्चित रूप से निषिद्ध मार्गों की सृष्टि की और उन पर औपादानिक गति से चल पड़ी। नेताओं ने यह जो मार्ग नहीं बताया था, पर 'करो या मरो' का नारा दे दिया था, यह एक भयंकर गलती थी, पर इसी गलती, भूल, भुलक्कड़पन के कारण ही तो जनता की उन्मेषशालिनी बुद्धि और भी गौरवयुक्त हो जाती है। १९४२ में जनता निश्चित रूप से अपने नेताओं के आगे निकल गई। १९४२ की तरह क्रान्तिकारी युगों में 'दृश्यगत (Objective) परिस्थियाँ जीवन की तरह द्रुतगति से परिवर्तित होती हैं।' ऐसी परिस्थिति में एक ऐसे सजीव गतिशील नेतृत्व की आवश्यकता थी 'जो प्रत्येक उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों के अनुसार अपनी नीति तैयार करती।' पर इस प्रकार के गतिशील नेतृत्व का यहाँ पता नहीं था। फिर भी जनता कठिनाइयों के चट्टानों को काट-काट कर अपने मार्ग का निर्माण करती रही और कुछ नये नेता जो एक हद तक अविशेषज्ञ थे, पैदा हो गये।

१९४२ के संबंधमें क्रांति शब्दके प्रयोगके अन्य कारण

मैं और भी एक विशेष कारण से १९४२ के संग्राम को क्रान्ति

कहना चाहूँगा। यद्यपि १६०५ की रूसी क्रान्ति असफल रही, फिर भी इसके बारह वर्ष बाद एक वल्कि दो क्रान्तियाँ हुईं जिससे मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त कर विश्व इतिहास में एक नवयुग की सूचना हुई। १६४२ के संग्राम के सम्बन्ध में क्रान्ति शब्द का प्रयोग करने में मेरे मन में यह भी बात है कि रूस की तरह भारतवर्ष में भी फरवरी तथा अक्टूबर में क्रान्तियां होगी, जिनके कारण झनझनाकर हमारी जनता की बेड़ियाँ टूट जायेगी। १६४२ को भारत में आने वाली फरवरी तथा अक्टूबर क्रान्तियों का कपड़ा सहित रिहर्सल समझता हूँ।

इतिहास में ऐसा देखा गया हैं कि प्रयोग के दौरान में शब्दों में नई व्यंजना की उत्पत्ति होती है। रूस की अक्टूबर क्रान्ति के बाद इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि १६०५ की तरह असफल जन-विद्रोह के लिये क्रान्ति शब्द के प्रयोग का एक नया क्रान्तिकारी अर्थ हो गया है। इस प्रकार जिस समय मै यह कहता हूं कि १६४२ का संग्राम एक क्रान्ति था, उस समय व्यंजनात्मक रूप से मेरा यह अभिप्राय हैं कि इसके बाद क्रान्तियाँ तब तक होती ही रहेंगी, जब तक सही अर्थ में किसान मजदूर राज्य की स्थापना नहीं हो जाती।

१९०५ और १९४२ में मौलिक भेद

पर इस प्रकार की ऐतिहासिक तुलना या समानान्तरवाद प्रत्येक क्षेत्र में ठीक ही हो ऐसी बात नहीं, कई क्षेत्र में तो इस प्रकार का समानान्तरवाद खतरे से पूर्ण होता है और उनसे गलतफहमियो के उत्पन्न होने का डर रहता है। कोई भी दो घटनायें सब दृष्टि से एक नहीं हो सकतीं। १६०५ की रूसी क्रान्ति तथा १६४२ की भारतीय क्रान्ति में कई मौलिक प्रभेद हैं।

१९४२ को बढ़ाने के लिये १६०५को घटाना जरूरी नहीं

१६४५ के ८ सितम्बर को लखनऊ में बोलते हुये श्री श्रीकृष्णदत्त

जी पालीवाल ने कहा था कि १९४२ के संग्राम के सामने दूसरे देशों में होने वाले इस प्रकार की सारी क्रान्तियाँ फीकी पड़ गई हैं तथा १९४२ के संग्राम की तुलना में रूस की १९०५ वाली क्रान्ति बच्चों का खेल था।"

१९४२ को बढ़ा करके दिखाने के लिये इसकी कोई जरूरत नहीं थी कि १९०५ को नीचा करके दिखाया जाता। अपनी-अपनी पृष्ठ-भूमि में दोनों क्रान्तियाँ बहुत महान हैं और भूतकाल के दृष्टिकोण तथा कार्यप्रणाली से क्रान्तिकारी रूप से अग्रसर होने की सूचना करती हैं। लेनिन ने लिखा था। "१९०५ की क्रान्ति ने जमीन को अच्छी तरह जोत डाला और सदियों के कुसंस्कारों को उखाड़ कर फेंक दिया। इसने लाखों मजदूरों तथा करोड़ों किसानों में राजनैतिक जीवन तथा संग्राम की आग फूँक दी। इस क्रान्ति से रूस के किसान तथा मजदूर साथ ही दुनिया सब वर्ग तथा सब दलों को उनके असली रंग में जान गई। यह भी मालूम हो गया कि असल में इन वर्गों तथा दलों का असली चरित्र क्या है, इनके दोस्त तथा दुश्मन कौन हैं, इनकी शक्ति तथा काम का तरीका क्या है तथा इनके तात्कालिक और अन्तिम लक्ष्य क्या है।" इस प्रकार लेनिन के इस कथन से स्पष्ट है कि रूस की १९०५ वाली क्रान्ति किसी भी अर्थ में बच्चों का खेल नहीं था। हम बता ही चुके कि १९४२ की तारीफ करने के लिये यह जरूरी नहीं है कि १९०५ को नीचा करके दिखाया जाय।

१९०५ की क्रान्ति, मजदूर क्रान्ति पर १९४२ वैसा नहीं

एक दृष्टिकोण से तो १९४२ की क्रान्ति १९०५ की रूसी क्रान्ति से बिलकुल भिन्न थी। १९०५ की क्रान्ति मुख्यत: एक मजदूर क्रान्ति थी। ट्राटस्की ने लिखा है "१९०५ में केवल १५ लाख मजदूर थे, और १९१७ में बीस लाख, फिर भी रूसी क्रान्तियों में मजदूरों की हड़तालों तथा आन्दोलनों ने इतना विराट रूप धारण किया था कि

वैसा दुनिया में कभी कहीं नहीं हुआ था। निम्न मध्यवित्तवर्ग के लोकतंत्र की कमजोरी और किसान आन्दोलन के बिखरेपन तथा राजनैतिक अन्धेपन के कारण मजदूरों की क्रान्तिकारी हड़ताल वह विराट धक्का देने वाली ढेंकी हो जाती है जिसे जाति उठाकर तानाशाही के फाटकों पर दे मारती है। १६०५ में राजनैतिक हड़तालियों की संख्या १८४३००० पहुँच गई थी। अवश्य इस आँकड़े में कई क्षेत्रों में काम करने वाले एक ही मजदूर को दो बार गिना गया है। हम यदि रूस की राजनैतिक परिस्थिति के विषय में कुछ भी न जानें तो भी मजदूरों की हड़ताल के आँकड़ों की सरणी (Table) को देखने से ही पता लग सकता है कि किस वर्ष में क्रान्ति हुई है।"

१६०५ की ३ जनवरी को सेन्ट पीटर्सबुर्ग के सबसे बड़े प्युटिलाफ (इस समय किराफ) कारखाने में हड़ताल शुरू हो गई। क्रान्ति का सूत्रपात यहीं से होता है। ६ जनवरी को १००० मजदूर गोलियों से उड़ा दिये गये और २००० से भी अधिक लोग घायल हुए। इस प्रकार ६ जनवरी का दिन रूसी इतिहास में खूनी एतवार के नाम से मशहूर हो गया। इस दिन के बाद तो सहानुभूति तथा राजनैतिक हड़तालों की संख्या बढ़ती ही गई।

१९४२ में मजदूरों का भाग कम

पर १६४२ की क्रान्ति में मजदूरों का कोई बड़ा हाथ नहीं रहा। भारतीय मजदूर इस क्रान्ति के मौके पर अपने कर्तव्य से चूक गये। इसका कारण भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का पतन बल्कि उसकी गद्दारी है, पर इसके और भी गहरे आर्थिक कारण थे। द्वितीय साम्राज्यवादी महायुद्ध के कारण भारतीय मजदूरों और विशेषकर ऐसे लोगों की हालत जो पहले मजदूर नहीं थे पर अब मजदूर हो रहे थे, मोटेतौर पर सुधरी थी न कि बिगड़ी थी। लड़ाई के कारण उद्योग धन्धों में जो विपुल विस्तार हुआ था, उससे अब तक के बहुत से बेकार तथा अर्द्ध

बेकारों को काम मिला था और उन्हें पहली बार नौकरियाँ मिली थीं। इस बात के साथ-साथ जब कम्युनिस्टों का बुरा प्रभाव मिल गया तो मजदूर गुमराह हो गये। मजदूरों में कम्युनिस्टों का प्रभाव बहुत अधिक नहीं था, पर वह इतना तो था ही कि दूसरों के प्रभाव को छिन्न-भिन्नकर मजदूरों को अकर्मण्य कर दे। यही कारण है कि १९४२ में मजदूर अपने कर्तव्य से च्युत हो गये और जो हिस्सा उन्हें अदा करना चाहिये था वह अदा नहीं कर सके। इन्हीं कारणों से जिस समय क्रान्ति का बिगुल बजा, ये लोग अँगड़ाई लेते हुये रह गये और सड़कों पर निकल नहीं आये।

क्या इससे मार्क्सवाद झूठा पड़ गया?

इससे अध्यापक रंगा जैसे कुछ लोगों को जो इसका मौका ही ढूँढ़ते रहते हैं, यह कहने का साहस हो सकता है कि मार्क्सवाद में चाहे जो कुछ भी समझा जाता हो भारतीय मजदूर शहरी मध्यवित्तवर्ग तथा किसानों के मुकाबले में कुछ क्रान्तिकारी नहीं हैं। हाँ, यह इतिहास का एक तथ्य है कि १९४२ की क्रान्ति में भारतीय मजदूरों का कोई प्रमुख भाग नहीं रहा। पर इससे मार्क्सवाद के सिद्धान्त पर आँच नहीं आती। इसके विपरीत मार्क्सवाद ही इस बात की सही व्याख्या कर हमें बताता है कि क्यों १९४२ में भारतीय मजदूर अपने कर्तव्य से च्युत होकर रह गये। मजदूरों की इस कर्तव्य-च्युति के आर्थिक कारण थे। क्या इसका अर्थ यह हुआ कि यदि सामयिक रूप से मजदूर वर्ग की हालत में कुछ सुधार हो जाय, तो यह वर्षों से जिस मौके की प्रतीक्षा की जा रही है, उसे नष्ट हो जाने देगा? नहीं इसके विपरीत मार्क्सवाद का सिद्धान्त तथा प्रयोग ही हमें यह बतलाता है कि यदि मजदूरों का सही रूप से संगठन किया जाय, तथा यदि वे राष्ट्र के चरित्र को समझ गये हैं, तो सीधे-सीधे आर्थिक कारणों का दबाव न पड़ने पर भी राजनैतिक नारों पर सड़क में निकल आयेंगे। यदि

मजदूर सही तौर से चेतन हो गये हैं, तो कोई भी उत्तेजक कारण जैसे छात्रों पर गोलियों का चलना जिससे उनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, उनके लिये एक क्रान्ति के सूत्रपात करने लायक कारण प्रमाणित हो सकता है।

१९४२ में मजदूरों ने राजनैतिक हड़ताल नहीं की और वे सड़क पर नहीं निकले, इससे केवल यही प्रमाणित होता है कि उनमें अभी राजनैतिक चेतना की कमी थी। इसका मतलब हर्गिज यह नहीं लगाया जा सकता कि वे भारत में क्रान्तिकारी वर्ग नहीं हैं। सच तो यह है कि उन्हीं की शिरकत न करने के कारण ही १९४२ की क्रान्ति असफल रही।

१८५७ और १९४२

१९४२ के संग्राम के नाम पर इतना तर्क-वितर्क के बाद अब हम इसके चरित्र में गहराई के साथ देखें कि यह क्रान्ति क्या थी। नेहरू जी ने अपने श्रीनगर वाले व्याख्यान में यह कहा था कि '१८५७ के भारत में इससे बड़ा कोई विद्रोह नहीं हुआ।' १८५७ के विद्रोह की विशेषता क्या थी ? यही न कि यह भारतीय जनता का सशस्त्र विद्रोह था जिसके द्वारा उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के नाग-पाश से छुटकारा पाने की कोशिश की थी। अवश्य यह विद्रोह पूर्ण रूप से जनता के लिये इस माने में नहीं था कि यह जनता के लिये नहीं था। सच बात तो यह है कि सही अर्थ में कोई भी विद्रोह जिसमें जनता अपने हाथों में शक्ति लेने के लिये विद्रोह नहीं कर रही है जन-विद्रोह नहीं कहला सकता, भले ही उसमें जनता भाग ले। १८५७ के विद्रोह में सामन्तों ने अपने सामन्तवादी स्थिर स्वार्थों के लिये जनता को जुझवा दिया था, पर वे अपने मन में चाहे जो कुछ भी सोचकर चले हों, यह किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता कि यदि विद्रोह सफल होता और विदेशी साम्राज्यवादी निकाल दिये जाते तो पुरानी राज्यप्रणाली का ज्यों का

त्यों उद्धार होता। नहीं, सफल विद्रोह के दौरान में जो जनशक्तियाँ उद्भूत होतीं, वे आसानी से सोने नहीं चली जातीं। वे अपने सामन्तवादी पीड़कों से कुछ न कुछ रियायतें हासिल कर ही लेतीं।

यहाँ पर हम से यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि हम इस विषय पर बारीकी से विवेचन करें कि यदि १८५७ की क्रान्ति सफल होती, तो उसके क्या नतीजे होते। इस प्रकार की तर्कना केवल अटकलबाजी के दायरे में बहक जाने के लिये बाध्य है क्योंकि इस पर किसी निर्णय पर पहुँचने के लिये यथेष्ठ उपकरण उपलब्ध नहीं हैं।

किस अर्थ में १८५७ और १९४२ एक

हमारे वर्तमान विषय के लिये इतना ही जानना यथेष्ठ है कि १८५७ का स्वतन्त्रता-युद्ध एक सशस्त्र विद्रोह था। मैं समझता हूँ कि जिस समय पंडित नेहरू या अन्य विद्वान १९४२ की तुलना १८५७ से करते हैं, उनका मतलब यही होता है कि १८५७ की तरह १९४२ का संग्राम एक 'हिंसात्मक' संग्राम था और १९२१, १९३०, १९३२, १९४० (वैयक्तिक सत्याग्रह) से इसका चरित्र सम्पूर्ण रूप से पृथक था।

१९४२ का संग्राम ऊपर गिनाये गये आन्दोलनों से जिस कारण से भिन्न था—जिनको हम और किसी कारण से नहीं तो सुविधार्थ गान्धीवादी आन्दोलन कह सकते हैं, वह यह था कि इस संग्राम के कार्यक्रम में और बातों के साथ-साथ गाड़ियों को तोड़ डालना, सरकारी सम्पत्ति का विनाश, अत्याचारी अफसरों को तथा उनके साथियों को सजा देना तथा शक्ति पर कब्जा था।

१९४२ का संग्राम हृदय परिवर्तन पर आधारित नहीं था

१९४२ की घटनायें चटगाँव शस्त्रागार काण्ड के जलालाबाद युद्ध की तरह थीं न कि चर्खा दंगलों की तरह जो एक तरह

कांग्रेसियों को बहुत प्रिय हैं। १९४२ के कार्यक्रम में हृदय-परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं थी। बलिया के कलेक्टर ने इसलिये आत्मसमर्पण नहीं किया था कि उस भले आदमी का हृदय परवर्तित हुआ था, बल्कि उसने जब देखा कि विनाश मुँह बाये खड़ा है और वह बुरी तरह घिर गया है तभी उसने आत्मसमर्पण किया था।

बलिया की घटनायें

बलिया की जिला कांग्रेस कमेटी ने अगस्त १९४२ में होने वाली घटनाओं की जो सूची तैयार की है, उससे न कि सर टाटेनहाम या किसी क्षुद्र टाटेनहाम द्वारा तैयार किये हुये विवरण से, हम देखेंगे कि हमारा कहना कितना सही है। स्मरण रहे नेहरू जी ने १९४५ में छूटने के बाद बराबर बलिया का उल्लेख बड़ी प्रशंसा तथा भावुकता के लहजे में किया है। कांग्रेस कमेटी द्वारा तैयार किया हुआ बलिया की घटनाओं का विवरण यों है :—

"१९४२ के ९ अगस्त की शाम को गान्धी जी तथा अन्य नेताओं की गिरफ्तारी की खबर बलिया पहुँची। १० अगस्त को शहर में पूर्ण हड़ताल रही। ११ अगस्त को छात्रों ने एक जुलूस निकाल कर कोतवाली की ओर जाना चाहा, पर सिटी मजिस्ट्रेट ने उन्हें चेतावनी दी कि वे ऐसा न करें। छात्रों ने इस चेतावनी को मानने से इनकार किया, इस पर उन पर लाठी चार्ज हुआ और कई लोगों को सख्त चोटें आईं। उसी रात को छात्रों के घरों की तलाशियाँ हुईं और ४० छात्र गिरफ्तार कर लिये गये।

"१२ तथा १३ अगस्त को सब तार कट गये, स्टेशन जला दिया गया और सरकारी सम्पत्ति नष्ट कर दी गई। १४ अगस्त को बलिया जिला सारी दुनिया से कट चुका था। १५ अगस्त को सरकारी इमारतों पर हमले हुए, नगर पोस्ट आफिस लूट लिया गया और जिला कांग्रेस कमेटी का दफ्तर जिस पर १० अगस्त से पुलिस का कब्जा था

जनता के अधिकार में आ गया। १६ अगस्त को पुलिस ने शहर में मनमाने तौर पर गोलियाँ चलाईं, जिससे ९ शहीद हुये, और कई घायल हुये। १० अगस्त को रसरा तहसील के खजाने तथा थाने पर जनता ने हमला कर दिया। पुलिस ने यहाँ पर फिर गोलियाँ चलाईं जिसमें वहाँ कई खेत रहे। १८ अगस्त को जनता ने बाँसडीह तहसील के खजाने को लूट लिया तथा वहाँ के थाने में आग लगा दी। जनता ने बैरिया थाने पर भी हमला कर दिया। इस पर पुलिस साढ़े चार घंटे तक गोलियाँ चलाती रही। १९ मरे तथा कई घायल हुये।"

"सारे जिले पर जनता का कब्जा हो गया था।"

"१९ अगस्त में यह प्रस्ताव किया गया कि बलिया शहर पर हमला किया जाय, जिला मजिस्ट्रेट को पकड़ लिया जाय तथा जेल पर हमला कर कांग्रेस नेताओं को छुड़ा लिया जाय। पर डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने श्री चीतू पांडे को, जो उन दिनों जेल में बन्द थे जेल से मुक्त कर उनके हाथों में आत्म समर्पण कर दिया।"

"डिंडोरा पीटकर अब बलिया की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी गयी और तीन दिन तक बलिया में जनता का राज्य रहा।"

"२२ अगस्त को मिलिटरी आ गई और जनता के साथ कई बार डटकर लड़ाई करने के बाद बलिया पर अधिकार कर लिया। १ सितम्बर को बलिया के इन्चार्ज अफ़सर ने लाट साहब को एक तार भेजा जिसमें कहा गया कि बलिया पर फिर से अधिकार कर लिया गया।"

मेदिनीपुर की घटनायें

इसी प्रकार मेदिनीपुर में जहाँ जनता का राज्य अपेक्षाकृत अधिक समय तक रहा थानों पर जबर्दस्ती अधिकार किया गया था। एक नन्दीग्राम का ही उदाहरण लिया जाय तो कांग्रेस कमेटी द्वारा बाद

को दी गई रिपोर्ट के अनुसार, "१०००० क्रान्तिकारी जनता थाने पर चढ़ गई थी। एक पतले दरवाजे पर खड़े होकर पुलिस वालों ने इन पर गोली चलाई थी। चार उसी समय मर गये और बाद को एक व्यक्ति तमबुक के सरकारी अस्पताल में मर गया। १६ आदमी घायल हुए थे। इस गोलीकांड के बाद जनता पीछे हट गई। इसके बाद जनता ने जाकर गाँजा तथा अफीम की दूकानों में आग लगा दी। साथ ही ऋण दफ्तर (Debt settlement office) रियापला में महिषादल राज की कचहरी तथा पोस्टआफिस में भी आग लगा दी गई।"

इसी प्रकार मेदिनीपुर के सुताहाटा में पहले से निश्चय करके २६--६—४२ को चालीस हजार जनता का जुलूस थाने पर पूर्व तथा पश्चिम से टूट पड़ा। इन जुलूसो के सामने वर्दी से लैस 'विद्युत-वाहिनी' तथा 'भग्नी-सेना-शिविर' के सदस्य तथा सदस्यायें थीं। सुताहाटा थाना के इन्चार्ज ने जुलूसवालों से वितर-बितर होने के लिये कहा, पर जनता ने उसे गिरफ्तार कर लिया और पुलिसवालों को गोली चलाने का मौका न देकर उन्हें गिरफ्तार कर उनके हथियार छीन लिये। कुछ कारतूसों के साथ छै राइफल और दो तलवारें बरामद की गईं। इसके बाद थाने की पक्की इमारत में आग लगा दी गई, और थाने के अन्दर की सब चीजें इसके अन्दर डालकर जला दी गईं। इस मौके पर दो हवाई जहाज आकर बहुत नीचे जनता के ऊपर उड़ने लगे और इनमें से कम से कम एक बम गिराया गया। यह पास के एक तालाब में गिरा और इससे किसी को कुछ नुकसान नहीं पहुँचा। (बाद को सेशन की अदालत में पुलिस की गवाही में यह बताया गया कि यह गिराई हुई वस्तु बम नहीं थी बल्कि तरल आग सी कोई चीज थी।)"

"इसके बाद क्रान्तिकारी जनता इलाके भर में फैल गई, और

खास महल दफ्तर, सब-रेजिस्ट्रार का दफ्तर तथा यूनियन बोर्ड के दफ्तरों में आग लगा दी गई।"

"जो सरकारी नोकर गिरफ्तार किये गये, उनके साथ अच्छा व्यवहार किया गया। इनको अपने घरों को लौट जाने के लिये किराया देकर घर जाने के लिये छोड़ दिया गया।"

गान्धी जी के आन्दोलन से १९४२ भिन्न

स्मरण रहे कि मैं सर आर० टाटेनहाम से उद्धरण नहीं दे रहा हूँ, बल्कि कांग्रेस कमेटियों द्वारा प्रकाशित रिपोर्टों से उद्धृत कर रहा हूँ। अवश्य ही इन विवरणों से जिस आन्दोलन की तसवीर हमारी आँखों के सामने आ जाती है, वह गान्धी जी के नेतृत्व में होने वाले १९२१, १९३०, १९३२ और १९४० के आन्दोलनों से गुणगत रूप से भिन्न है। मैं इस अवसर पर १९४२ के संग्राम का इतिहास लिखना नहीं चाहता, न तो इसके लिये यह मौका ही है और न उसके लिये अभी यथेष्ट मसाला ही उपलब्ध है। मैं सिर्फ इतना ही दिखलाना चाहता हूँ कि १९४२ के संग्राम में थाना, तहसील, अदालत इत्यादि पर हमला आम बात थी। अब की बार जनता अपने कष्टों के द्वारा सरकार पर नैतिक छाप बैठाकर तथा आध्यात्मिक शक्तियों को मुक्त कर सन्तुष्ट नहीं थी। अब की बार वे वास्तविक रूप से शक्ति पर कब्जा करने के लिये चल पड़ी थीं। हृदय परिवर्तन का कोई सवाल नहीं था।

सभी गान्धीवादी आन्दोलन १९४२ से बिलकुल भिन्न थे। उनका उद्देश्य तकलीफ उठा-उठा कर हृदय परिवर्तन कराना था। राजनीति की भाषा में अनुवाद करने पर उनका दायरा दबाव-राजनीति तक ही था। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि ये आन्दोलन अपने समय में क्रान्तिकारी नहीं थे। इसके विपरीत अपनी पृष्ठिभूमि में यह राज-नीति बड़ी हद तक क्रान्तिकारी थी।

गान्धीवादी राजनीति कभी क्रान्तिकारी थी

प्रथम विश्व महायुद्ध के बाद जब सरकार ने भारतवर्ष को रौलट बिल का तोहफा देना चाहा, तो उस समय जनता में बेवशी छाई हुई थी। इस बेवशी का सामना करने के लिये पुराने नेताओं तथा पुरानी कांग्रेस के पास कोई साधन नहीं था। पुराने नेता तो केवल लम्बे-लम्बे प्रस्ताव पास करना जानते थे। इङ्गलैण्ड में डेपुटेशन भेज देना उनके शौर्य की चरम सीमा थी।

ऐसे समय में जब सारी जाति व्यर्थता और विवशता के पंजों में छटपटा रही थी. गान्धी जी ने उस समय असहयोग सम्बन्धी सिद्धान्त को लेकर राजनैतिक मंच में पदार्पण किया। यद्यपि इस नवीन उपाय के इर्द-गिर्द बहुत सा आध्यात्मिक कूड़ा-कबाड़ लिपटा हुआ था, फिर भी इस मार्ग का राजनैतिक मूल्य तथा आवेदन निःसंदिग्ध था।

सरकारी रूप से प्रकाशित '१६२० में भारत' (India in 1920) के लेखक ने भी माना है कि "गान्धी जी ने आत्मबल की जो दुहाई दी वह जनता को जँच गई क्योंकि जनता उन्हीं के धार्मिक विश्वासों के सिद्धान्तों में विश्वास करती थी। उनके आत्मत्याग और कृच्छ्र सम्बन्धी मतों की प्रशंसक थी। अपने ऐसे देशवासियों के सन्मुख जिनके जातीय आत्मसम्मान को ठेस लग चुकी थी वे आकर एक मुक्ति के चट्टान की तरह खड़े हो गये। नतीजा यह है कि उनके आदेशों को अर्द्ध-दैवी आदेशों की मर्यादा प्राप्त हो गई।"

कांग्रेस के पहले के नेताओं से गान्धी जी क्रान्तिकारी

इस प्रकार कांग्रेस के पहले के नेताओं की तुलना में गान्धी जी एक बहुत बड़े क्रान्तिकारी थे और उनका असहयोग वाला अस्त्र पहले के कांग्रेसी नेताओं के भिक्षापात्र वाले साधन से कहीं क्रान्तिकारी था। अवश्य लोकमान्य तिलक भिक्षापात्र के सिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले

नेता नहीं थे पर यह बता देना उनके प्रति असम्मान न होगा कि वे जनता की असीम सम्भावना तथा शक्ति में विश्वास नहीं रखते थे। सच बात तो यह है कि वे इस सत्य से अनभिज्ञ थे कि इतिहास को चलानेवाली (Locomotives of history) क्रान्तियों की पृष्ठिभूमि में जनता की शक्ति ही काम करती हैं। वे बल्कि क्रान्तिकारी गुटों की शक्ति में विश्वास रखते थे, इस प्रकार वे मानसिक तथा बौद्धिक रूप से पुराने ढङ्ग के ब्लाँकीवादी क्रान्तिकारियों के नजदीक थे। अवश्य ही इस गुट के लोग बहुत ही बहादुर थे, पर वे उस वीरता से अनभिज्ञ थे जो केवल जनता के ही वश की हैं।

अध्यात्मवादी बाना से जनता में जल्दी प्रवेश

गान्धी जी ने आत्मबल, अपने कष्टों द्वारा पीड़क का हृदय परिवर्तन, रिपुओं को क्रूस पर चढ़ाना आदि जो बहुत लम्बी-चौड़ी बातें कीं, वे ऐसे लोगों के लिये जो आधुनिक ढङ्ग से सोचने के आदी थे, बहुत ही भ्रम में डालने वाली तथा कष्टप्रद थी, पर इसी आध्यात्मिक मुलम्मा तथा पान के ही कारण उनकी बातें और जल्दी से भारत की पिछड़ी हुई तथा अज्ञ जनता में घर कर गई। आधिदैविक दृष्टि से देखने पर गान्धी जी की बातचीत जनता के लिये बहुत ही सरल थी। उसमें कोई भी नई बात नहीं थी जो समझ में न आवे। युगयुगान्तर से भारतीय जनता इस प्रकार की बातें सुनती आ रही थी। वे इन बातों की इतनी आदी थी कि इन्हें सुनते-सुनते वे इनके प्रति उदासीन हो चुकीं थीं। फिर भी अब की बार जिस बात से जनता का कौतूहल जग उठा, वह चौकन्नी हो गई, और उसके कान खड़े हो गये, वह यह थी कि उन्होंने देखा कि बाबा आदम के जमाने की इन बातों को उनकी राजनैतिक तथा सामाजिक माँगों के साथ जोता जा सकता है। यदि गान्धी जी का आधिदैविकवाद बहुत पुराना था, और उनका दर्शन सड़ा हुआ था तो क्या उनके साथ लगे हुए व्यवहारिक साधन

बहुत ही व्यवहारिक थे। गान्धी की व्यवहारिक बुद्धि तो बहुत तीव्र थी।

गहराई में आर्थिक कारण

इस प्रकार गान्धी जी का अलौकिक दर्शन और भारतीय जनता का पिछड़ापन एक दूसरे के पूरक हो गये। गान्धी जी के हाथों में इसी प्रकार यह अलौकिक दर्शन एक हत्ते की तरह हो गया जिससे जनता को गतिशील किया गया। अवश्य यह अलौकिक दर्शन केवल सतह की चीज थी। इसके नीचे, बहुत नीचे बहुत गहरी शक्तियाँ जनता को गतिशील कर रही थी। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय राजनैतिक गगन में गान्धी जी का एक नवीन सूर्य के रूप में उदित होना, जिसके सामने पहले के सब उडुगण फीके पड़ गये, कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, बल्कि बिलकुल स्वाभाविक था।

बंगभंग भी जन-आन्दोलन था

यह बात नहीं कि भारतवर्ष में असहयोग के पहले कोई जन-आन्दोलन हुआ ही नहीं। हुआ और उनमें से कई बहुत शक्तिशाली थे। बंगभंग आन्दोलन निश्चय रूपेण एक जन-आन्दोलन था। इसने बंगाल की हिन्दू जनता को बहुत गहराई तक स्पर्श किया था। अवश्य यह मुख्यतः मध्यवित्त बाबू श्रेणी का आन्दोलन था। इस वर्ग ने साम्राज्यवाद के साथ आशनाई के अपने प्रथम युग में बहुत गुलछर्रें उड़ाये थे और सोने की फसल बटोरी थी, पर इस शताब्दी के प्रारंभ तक परिस्थिति बदल रही थी क्योंकि इस बीच में दूसरे प्रान्तों में अङ्गरेजी शिक्षित मध्यवित्तवर्ग की उत्पत्ति हो चुकी थी और ये नये वर्ग नौकरियों में हिस्सा माँग रहे थे और उन्हें नौकरियाँ मिल भी रही थी। कभी तो ये नौकरियाँ बंगाली मध्यवित्तवर्ग की बपौती थी। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम में बंगाली मध्यवित्तवर्ग ने भारतीयस्वतन्त्रता के विरुद्ध ब्रिटिश साम्राज्य-

वाद को मदद दी थी, और इस प्रकार साम्राज्यवाद द्वारा प्राप्त लूट का हिस्सेदार हो गया था। छोटी और मझली नौकरियाँ उसे ही मिलती थी। पर अब बिहारी, पंजाबी तथा संयुक्त प्रान्त के लोगों में अङ्गरेजी शिक्षित नौकरी पेशा मध्यवित्तवर्ग के उदय हो जाने के कारण बंगाली मध्यवित्तवर्ग के प्रतियोगी पैदा हो गये थे। अब बिहार बिहारियों के लिये आदि नारों की आड़ में विभिन्न प्रान्त के नौकरी पेशा वर्ग की लड़ाई चलने लगी और उसका नतीजा यह हुआ कि बंगाली 'भद्रलोकों' की नौकरी सम्बन्धी स्वर्णयुग का अन्त हो गया। इसके फलस्वरूप बंगाली मध्यवित्तवर्ग में भयंकर अशान्ति की सृष्टि हुई। यही अशान्ति बंगभंग की चिनगारी से सुलग उठी। इसलिये यह न तो कोई रहस्यवादी तथ्य है और न कोई अनहोनी बात है कि यह बंगाली 'भद्रलोक' जो कल तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद का दोस्त था अब उसका सब से भयंकर दुश्मन हो गया।

जनता हमेशा विद्रोही वर्ग के साथ, पर...

अवश्य इस वर्ग ने जब अपने कल के आका और दोस्त पर अपना तोपखाना खोल दिया तो उसने स्वाभाविक रूप से यह चाहा कि जनता उसके पक्ष में हो। जब भी कोई वर्ग अपने शोषकों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाता है, तो उसे तो बस जनता को जरा सा बुलाना पड़ता है और जनता उसके साथ हो लेती है। इसी प्रकार यूरोप में होनेवाली अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी की पूंजीवादी क्रान्तियों में हम देखते हैं कि हमेशा मेहनतकश वर्ग ने विद्रोही वर्ग का साथ दिया और उसकी लड़ाइयाँ लड़ीं, पर 'अन्त में जाकर उन्हें झूठे वादों और वंचक आशाओं का सब्ज बाग दिखाकर टाल दिया गया।'

इसी प्रकार बंगभंग के आन्दोलन में जनता को भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई में ला दिया गया। इस आन्दोलन के ब्यौरे

में न जाकर इतना ही कहना यथेष्ठ होगा कि यह आन्दोलन एक विस्तृत जन-आन्दोलन था। रौलट कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार एक ढाका जिले में ही अनुशीलन समिति की ६०० शाखायें थीं। सांगठनिक रूप से यह एक रिकार्ड है जिसे १९४६ में संयुक्त प्रान्त की कांग्रेस ने भी जो भारतवर्ष में सब से सुसंगठित तथा जनता तक पैढ़ी हुई है तोड़ नहीं पाया।

बंगभंग का गुप्त आन्दोलन में परिणत

चलते हुये यह बता दिया जाय कि इस आन्दोलन के युग में ही गान्धीवादी रचनात्मक कार्यक्रम के अन्तर्युक्त सभी बातें जैसे स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा आदि का जनता में प्रचार किया गया था। जब बंगभंग का जन-आन्दोलन निर्दयतापूर्वक जबर्दस्ती दबा दिया गया, तभी बंगाल में गुप्त समितियों का सूत्रपात हुआ। इस प्रकार जो आन्दोलन एक अच्छा खासा जन-आन्दोलन था, एक गुप्त आन्दोलन में परिणत हो गया। अब इसके द्वार कुछ चुने हुये लोगों के लिये ही खुला रहा तथा अब इसने जन-आन्दोलन का रास्ता छोड़कर वीरतापूर्ण कार्य के द्वारा प्रचार का मार्ग अपनाया।

बंगालमें क्रान्तिकारी आन्दोलनकी पुख्तगीका कारण

इस प्रकार हमें इस बात का पता लगता है कि क्या कारण है कि दूसरे प्रान्तों में तो क्रान्तिकारी गुप्त समितियाँ जब कि प्रान्त में ही उत्पन्न, न कि बाहर से लाई हुई होती थी तब भी बार-बार मर जाती थी, उनका जीवन क्षणिक होता था, पर बंगाल में बंगभंग के युग में गुप्त समितियाँ कभी मरी ही नहीं और उनका सिलसिला जारी रहा। बात यह है कि बंगाल में पुराने ढंग के क्रान्तिकारी आन्दोलन का उदय एक विराट और व्यापक जन-आन्दोलन से हुआ था। यह कोई परोपजीवी पौधा नहीं था, बल्कि बंगाल की हिन्दू जनता के मनो में इसकी जड़ें बहुत गहरे में मौजूद थीं।

बंगाल ही से बार-बार इन गुप्त समितियों के बीज दूसरे प्रान्तों में ले जाये गये। हाँ इन प्रान्तों में से कुछ की जमीन इस बीज के लिये बंजर साबित हुई। साथ ही कुछ जमीनें जैसे भगतसिंह के समय के पंजाब की जमीन सामयिक रूप से ही सही, इस बीज के लिये बंगाल से अधिक उपजाऊ साबित हुई। दक्ष खेतिहर भगतसिंह ने इस जमीन का खूब फायदा उठाया और कुछ समय के लिये पंजाब बल्कि उत्तर भारत से यह खेती इतनी सफल रही कि बंगाल भी इसके सामने फीका पड़ गया।

भगतसिंह का जादू

भगतसिंह ने कोई जादू नहीं किया था। भगतसिंह ने क्रान्तिकारी दल को जनता के साथ जोड़ दिया, बस यही उनका जादू था। जनता के साथ क्रान्तिकारी आन्दोलन को जोड़ने की यह कला बंगभंग के दिनों के बाद से बंगाल में लुप्त सी हो चुकी थी। भगतसिंह ने पंजाब बल्कि उत्तर भारत में इस लुप्त कला का पुनरुद्धार किया था, यही उनकी अभूतपूर्व सफलता का रहस्य था। वे अधिकतर दूरदर्शी थे, फिर उनमें संगठन की असीम प्रतिभा थी। इनका उपयोग कर उन्होंने पंजाब, बल्कि सारे उत्तर भारत में नौजवान सभाओं का जाल सा बिछा दिया। साथ ही उन्होंने दल के आतंकवादी कार्यों के लिये ऐसे मौके चुने, जिससे जनता का ध्यान अधिक से अधिक उस ओर खिंच जाय। यहाँ पर हमें इस बात के लिये सैन्डर्स हत्याकाण्ड या ऐसी घटनाओं के समर्थन की जरूरत नहीं कि किस प्रकार भगतसिंह ने इन घटनाओं को लाला जी पर लाठीचार्ज से जनता को जो कष्ट पहुँचा था, उससे संयुक्त करने में सफलता प्राप्त की। फिर अब इन हत्याकांडों के समर्थन या विरोध का प्रश्न ही कहाँ उठता है क्योंकि इस घटना के पहले और बाद को साम्राज्यवाद ने जितने हत्याकांड किये, उनकी तुलना में क्रान्तिकारियों के आतंकवादी कार्य कुछ भी हैसियत

नहीं रखते।

एक क्रान्तिकारी के रूप में भगतसिंह का यश केवल इसी बात पर आधारित नहीं है कि उन्हें जनता की भावुकताओं के सम्बन्ध में सूक्ष्म समझ प्राप्त थी और उसका फायदा उठाना जानते थे। नहीं, उनका यश और भी ठोस आधार पर स्थित है। गान्धी जी ने भारतवर्ष के राजनैतिक रंगमंच में एक सार्वजनिक विवशता की पीठ पर चढ़कर प्रवेश किया था, सरदार ने भी इसी प्रकार एक दूसरे मौके की सार्वजनिक असहायता के घोड़े पर सवार होकर भारतीय राजनीति क्षेत्र में पधारा। यह असहायता लाला जी पर लाठी चार्ज से उत्पन्न हुई थी। एक मामूली अफसर की इतनी मजाल कि इतने बड़े सर्वमान्य नेता को लाठियों से मार डाले।

मजदूर किसान अधिनायकत्व और इन्कलाब जिन्दाबाद

इतना ही नहीं, भगतसिंह की ख्याति का आधार और भी ठोस है। दिल्ली से बयान देते हुए उन्होंने मजदूर (और किसानवर्ग) के अधिनायकत्व का नारा दिया था। साथ ही उन्होंने इन्कलाब जिन्दाबाद के नारे का प्रवर्तन किया था। बाद को यह नारा भारतीय जनता का युद्ध नारा हो गया। मजदूर किसानवर्ग के अधिनायकत्व के नारे में भगतसिंह ने भारतीय जनता की असली माँग को ध्वनित किया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि भगतसिंह जनता के प्यारे हो गये और कुछ दिनों के लिये भारतीय राजनैतिक गगन में दो सूर्य हो गये जो एक दूसरे से अधिक शक्तिशाली होने की होड़ कर रहे थे।

भगतसिंह तक ही दबाव-राजनीति का अन्त

सच तो यह है कि भगतसिंह के युग तक ही गान्धीवादी दबाव-मूलक राजनीति की व्यर्थता सिद्ध हो चुकी थी। अब यह मार्ग कारगर नहीं रहा था। पर यद्यपि अब गान्धीवादी तरीका एक राजनैतिक अस्त्र के रूप में बेकार सा हो चुका था, फिर भी इस बीच में यह

भारत के राजनैतिक पूजा-गृह में एक लड़की का बुत बनकर बैठ चुका था। १६४० में वैयक्तिक सत्याग्रह में जो फजीहत हुई उसके हुये बगैर इस बुत को निकाल बाहर करना कठिन था।

१९४२ में सब धारायें एकीभूत

प्रथम दृष्टि में यह ज्ञात होगा कि बंगभंग, गुप्त समितियों तथा भगतसिंह आदि की बातों का १६४२ के संग्राम से सम्बद्ध आलोचना में कोई स्थान नहीं और वे अप्रासंगिक हैं। पर कुछ गहराई के साथ विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि ये सब परस्पर सम्बन्धयुक्त हैं। १६४२ में आकर भारतीय राजनीति की सभी धारायें एकत्र हो गईं और इस प्रकार वह विराट जलप्रवाह बना जिसकी गति के सामने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का खेमा बह ही तो गया था।

भारतीय परिस्थिति ने गान्धी जी का सृजन किया

यद्यपि बंगभंग आन्दोलन एक जन-आन्दोलन था और बहुत ऊँचे दर्जे का जन-आन्दोलन था फिर भी यह कमोवेश बंगाल ही की सरजमीन तक सीमित था। वगभंग के कारण बंगाल के बाहर इधर उधर बुलबुले उठे, पर बंगाल के बाहर इसका कोई विशेष फैलाव नहीं हुआ ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। असहयोग की बात इसलिये दूसरी थी कि यह एक अखिल भारतीय आन्दोलन था। इसने न केवल सारे भारत में आग लगा दी, बल्कि इसकी चिनगारियाँ सागर नाँघकर भारत के बाहर भी पहुँची। अवश्य ही जनता में जो अशान्ति की आग सुलग रही थी, उसी ने ऋत्विक के रूप, गान्धी जी की सृष्टि की। इस प्रकार भारत की पिछड़ी हुई, नम्र तथा मूक भारतीय जनता ने १६१६ में गान्धी जी को अपने ही नमूने पर तैयार किया। मैं यहाँ पर इस काँटे के प्रश्न में न पड़ूँगा कि जिस सार्वजनिक अशान्ति ने गान्धी जी को जन्म दिया था, गान्धी जी ने उसके प्रति पूर्ण न्याय किया या नहीं किया।

जेल जाकर दबाव डालना तीन पी से श्रेष्ठ

अब तक कांग्रेस वालों में जो तीन पी (Petition, prayer, protest) या अर्जी, प्रार्थना, प्रतिवाद का तरीका प्रचलित था, उनके मुकाबले में गान्धी जी द्वारा प्रवर्तित जेल जाकर तथा पुलिस और लाठी की मार खाकर दबाव डालने का तरीका कहीं अधिक श्रेष्ठ था। हाँ भारतीय राजनीति में एक तीसरा उपाय भी सामने मौजूद था। यह चाफेकरबन्धु, खुदीराम, कन्हाई, करतारसिंह का उपाय था। इन क्रान्तिकारियों की देशभक्ति तथा वीरता का क्या कहना था। वह तो बेजोड़ थी। पर इनके उपाय में जनता को नहीं लिया जाता था। कुछ चुने हुए व्यक्ति ही सब कुछ करते थे। इनके तरीके में जनता से यह नहीं कहा जाता था कि आओ तुम अपना पत्रपुष्पफलतोय देकर इस महायज्ञ में शिरकत करो। इन लोगों का तरीका वीरों के द्वारा जनता के उद्धार का तरीका था। इस तरीके में वीर जो जनता से ही आये हुये होते थे और जनता में जिनकी गहरी जड़ें होती थीं हो सब कुछ करने धरने वाले थे। जनता का इस बीच में केवल इतना ही काम था कि वह प्रशंसमान दृष्टि से वीरों के शौर्यों को देखती रहे। हाँ अंतिम मंजिल में उनसे कहा जाता कि तुम भी भाग लो।

असहयोग एक जन-आन्दोलन

पर गांधी जी ने जिस असहयोग आन्दोलन का प्रवर्तन किया, उसमें सब से पहली मंजिल से ही जनता को हिस्सा लेना था। जनता से ही कहा गया कि हड़तालें करें, जनता से ही कहा गया कि वे अदालतों तथा सरकारी स्कूलों से असहयोग करें, जनता से ही कहा गया कि वे पंचायतों तथा राष्ट्रीय स्कूलों का निर्माण कर उन्हें चालू करें। इस प्रकार असहयोग आन्दोलन के दौरान में ही पहली बार भारतीय जनता से कहा गया कि वे अखिल भारतीय रूप में हजारों की तादाद में आकर अपने कष्टों से इतिहास का निर्माण करें। अवश्य ही इस

आन्दोलन में पुराने ब्लाँकीवादी-आतंकवादी आन्दोलन से जनता का कहीं अधिक सम्मान किया गया। यह सम्मान सिर्फ इसी बात में था कि उनसे कहा गया कि आकर हाथ बँटाओ। पहली बार भारतीय जनता के बालिगपन को गांधी जी ने स्वीकार किया। इसके पहले के युग में तो दूसरे लोग उसे नाबालिग समझ कर उसकी तरफ से काम कर रहे थे। अवश्य ही गांधी जी का यह कदम एक बहुत ही क्रान्तिकारी कदम था।

लक्ष्य की अस्पष्टता, पर जनता तो लड़कर ही तुष्ट

फिर भी गांधी जी ने लक्ष्य को कलात्मक रूप से अस्पष्ट रक्खा। बाबू भगवानदास ऐसे प्रसिद्ध व्यक्तियों के जिद्दी अनुरोध के बावजूद स्वराज्य शब्द की व्याख्या नहीं की गई। उसकी परिभाषा टाली गई। अहमदाबाद कांग्रेस में हसरत मुहानी की पूर्ण स्वतंत्रता वाले प्रस्ताव का स्वयं गांधी जी ने विरोध किया और यह प्रस्ताव गिर गया। पर इस प्रकार लक्ष्य की अस्पष्टता से कुछ आया गया नहीं। प्रथम साम्राज्यवादी महायुद्ध के बाद जो विश्वव्यापी आर्थिक संकट आया था, उसके दायरे में भारतीय जनता भी पड़ गई थी। वह युगों की मोहनिद्रा से जगकर असन्तोष के कारण उबल रही थी तथा संग्राम के लिये व्याकुल हो रही थी। उनको इस सम्बंध में कुछ परवाह नहीं थी कि किन शक्तियों से वह लोहा ले रही है। लक्ष्य के सम्बन्ध में बाल की खाल में जनता को दिलचस्पी नहीं थी। वे तो लड़ने में ही तथा अपने असंतोष के गुबार को चाहे वह सृजनात्मक तरीके से निकले या और किसी प्रकार से निकाल देने में ही संतुष्ट थे। भारतीय जनता यों ही बहुत गरीब थी, १ १४-१८ की लड़ाई ने उन्हें और भी तबाह कर दिया था। गत सौ वर्ष के ब्रिटिश राज्य में उनकी हालत बद से बदतर होती गई थी। पीछे हटते-हटते अब भारतीयों की पीठ दीवार से लग चुकी थी, अब वे निराश होकर लड़ने के लिये तैयार हुये थे। संक्षेप

में यही असहयोग आन्दोलन की रूपरेखा है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गांधी जी के आगमन के साथ-साथ कांग्रेस ने अपने जीवन के द्वितीय सोपान में प्रवेश किया। यह गांधीवादी दबावमूलक राजनीति का सोपान था। पहला सोपान तो तीन पी अर्थात् अर्जी प्रार्थना और प्रतिवाद का था।

जेल जाना भी एक साधन

इस नये सोपान का पहला आन्दोलन १९२१ का असहयोग आन्दोलन था। जान-बूझकर जेल जाना इसकी प्रधान विशेषताओं में था। अवश्य ही तीन पी के मुकाबले में इस प्रकार जेल जाने का दबाव मूल्य अधिक था। जेल जाने का कार्य शिक्षा तथा संगठन का एक बहुत बड़ा वाहन था। जो लोग इस प्रकार एक ही लक्ष्य के लिये जेल गये, वे खुदबखुद एक बहुत ठोस भ्रातृत्व में संगठित हो गये। इसके अतिरिक्त इस आन्दोलन के कारण जनता में साम्राज्यवादी जेलों तथा अन्य सरकारी सजाओं के प्रति जो अवज्ञाभाव का उदय हुआ, उससे जनता की नैतिक उन्नति हुई। इससे जनता का हौसला बढ़ गया।

असहयोग के पहले भी जेलें भरतीं थी

यह बात नहीं कि असहयोग आन्दोलन के पहले लोग जेलों में नहीं गए थे। लोग जेलों में इसके पहले अवश्य गये थे। इसके पहले क्रान्तिकारीगण न केवल हजारों की संख्या में जेलयात्रा, सैकड़ों की संख्या में अण्डमन यात्रा ही कर चुके थे, बल्कि असहयोग के बहुत पहले दर्जनों क्रान्तिकारियों को फाँसी हो चुकी थी। जिस समय गांधी जी धीरे-धीरे पर निश्चित कदमों से भारतीय राजनैतिक मंच में प्रवेश कर रहे थे, उस समय भी सैकड़ों क्रान्तिकारी सुदूर अण्डमन में सड़ रहे थे। क्रान्तिकारियों के अतिरिक्त कुछ और लोग भी समय-समय पर जेल जाते रहते थे।

इसलिये जहाँ तक जेल जाने का सम्बन्ध है, असहयोग आन्दोलन ने कोई नया जीवन मार्ग नहीं खोला। हमारे साम्राज्यवादी रक्तशोषकों ने बहुत पहले ही जेलों को देशभक्त कार्यकर्ताओं, वक्ताओं, पत्रकारों आदि के लिये सुलभ कर रक्खा था। पर गांधी युग के पहले जेल जाना अपवाद था न कि नियम। क्रान्तिकारीगण कभी भी जानबूझ कर, माँगकर जेल नहीं जाते थे। उनसे जब तक बन पड़ता गिरफ्तारी से बचते। वे तभी गिरफ्तारी के जाल में फँसते जब कमजोर पड़ते या घिर जाते। नलिनी बागची की तरह कई तो गोली से मार डाले गये, पर गिरफ्तार नहीं हुये। अवश्य लोकमान्य तिलक ऐसे व्यक्ति खुशी से गिरफ्तार हुए, पर वे भी जहाँ तक बन पड़ा मुकदमा लड़कर तब जेल गये।

पर असहयोग जेल यात्रा को जनता में ले आई

पर असहयोग आन्दोलन के कारण जेलयात्रा जनता में आ गई। इसमें जो लोग जेल जाते थे, वे मुकदमा भी नहीं लड़ते थे, न अपील करते थे। इस प्रकार जेल जाना ही इस नये आन्दोलन के कार्यक्रम का एक अंग हो गया। अवश्य इस कार्यक्रम में और भी बातें थीं, जैसे चर्खा, अछूतोद्धार इत्यादि, पर इस कार्यक्रम में यदि माँगकर जेल जाना न होता तो और सब बातों के होते हुये भी इस कार्यक्रम में कोई नवीनता नहीं होती; फिर न तो जनता ही इसके प्रति आकृष्ट होती और न सरकार पर ही इसका कोई दबाव पड़ता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साम्राज्यवाद से संग्राम की इस नई गांधीवादी रणनीति की सबसे बड़ी विशेषता माँगकर जेल जाना ही था।

अध्यात्मिक तामझामके कारण अंतर्राष्ट्रीय ख्याति भी जल्दी

मैंने यह पहले ही बतलाया है कि असहयोग के साथ जो अलौकिक दर्शनगत तामझाम था, उससे इसका राजनैतिक असर कम नहीं हुआ, बल्कि सामयिक रूप से बढ़ा ही। गांधी जी के इस अलौकिक दर्शन

से न केवल भारत की पिछड़ी हुई जनता में उनकी चीजें जल्दी पहुँच गई, बल्कि इसी दार्शनिक मुलम्मे के कारण वे रातोंरात यूरोप और अमेरिका के आध्यात्मिक सनकियों में मशहूर हो गये। इन शेपोक्तों में गांधी जी की प्रसिद्धि का राजनैतिक मूल्य बहुत कम नहीं था क्योंकि यद्यपि इन विदेशी आध्यात्मिक सनकियों का अपने देश में कोई भी राजनैतिक प्रभाव नहीं था, फिर भी ये लोग बोलने और लिखने वाले थे और ये कुछ नहीं कर पाये तो भी इन्होंने इतना तो कर ही दिया कि अपने पृष्ठपोषित को यूरोप और अमेरिका में बातचीत का विषय बना दिया। यह बात गांधी जी तथा उनके आन्दोलन के लिये बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हुई। इस प्रकार गांधी जी तथा असहयोग आन्दोलन अपनी राजनीति के लिये नहीं, बल्कि इसमें वह जो उपादान था जिसके कारण यूरोप और अमेरिका के आध्यात्मिक सनकी इस पर फिदा हो गये थे, सारे जगत की दिलचस्पी का विषय हो गया। इस प्रकार गांधी जी जगत के बड़े आदमियों में गिने जाने लगे। यह विश्वख्याति उनकी राजनीति के लिये बहुत हितकर सिद्ध हुई क्योंकि इससे उनके आन्दोलन का दबाव-मूल्य और भी बढ़ गया।

१९३० तथा '३२ और '४० के आन्दोलन

१९३० और '३२ के आन्दोलन गुणगत रूप से १९२१ के आन्दोलन से पृथक नहीं थे। हमारे वर्तमान विषय के लिये इस सम्बन्ध में इतना ही जानना यथेष्ट होगा। कांग्रेस प्रवर्तित १९४० का वैयक्तिक सत्याग्रह गांधीवादी युग के अन्त के रूप में एक बहुत ही अनुपयुक्त अध्याय रहा।

द्वितीय महायुद्ध के छिड़ते समय आठ कांग्रेसी मंत्रिमंडल थे

द्वितीय साम्राज्यवादी महायुद्ध के बहुत पहले ही कांग्रेस यह निर्णय कर चुकी थी कि यदि कोई युद्ध छिड़ा तो कांग्रेस उसमें कोई भाग नहीं लेगी। जिस समय द्वितीय विश्व महायुद्ध का नारकीय दौर-

दौरा शुरू हुआ. उस समय आठ प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रिमंडल काम कर रहे थे और इस महायुद्ध का छिड़ जाना कांग्रेस के एक हिस्से के लिये जो कांग्रेस मंत्रिमंडलों के आड़ में अपना उल्लू खूब सीधा कर रहा था बिना मेघ के वज्रपात की तरह हुआ। इन मतलबी टुकड़-खोरों के लिये कांग्रेस मंत्रिमंडल कामधेनु की तरह थे। पर कांग्रेस के दूसरे हिस्से इस प्रकार नहीं सोचते थे। स्वयं गांधी जी को मंत्रि-मंडलों के प्रति कोई मोह नहीं था। इसके अतिरिक्त अपने ही प्रस्तावों से कांग्रेस के हाथ-पैर इतनी बुरी तरह जकड़े हुये थे कि युद्ध छिड़ जाने के बाद कांग्रेस के लिये अधिक दिनों तक अपने पूर्व निश्चित कर्तव्यों से मुँह मोड़ना सम्भव नहीं हुआ।

अपने प्रस्ताव के बावजूद कांग्रेस उधेड़बुन में

साम्राज्यवादी युद्ध के छिड़ते ही कांग्रेस को अपने बहुप्रचारित प्रस्तावों के अनुसार लड़ाई का एलान कर देना चाहिये था, पर नौकरी चाहने वालों, परम सुविधावादियों के प्रभाव के वशवर्ती होकर यह बहुत दिनों तक उधेड़बुन में पड़ी रही। ऐसा मालूम पड़ा कि वह अपने प्रस्तावों के जाल को तोड़कर निकल जाना चाहती है। पर वामपक्षियों ने जिनमें उस समय तक भारतीय कम्युनिष्ट भी थे और प्रगतिशील दक्षिणपंथी बराबर संग्राम के लिये चिल्लाते रहे। अभी तक कथित कम्युनिष्ट गद्दार नहीं हुये थे। इसके अतिरिक्त कांग्रेस अधिकतर रूप से जिस मध्यवित्त श्रेणी के लोगों से बनी हुई थी, उसने भी साम्राज्यवाद से संग्राम छेड़ने के पक्ष में अपनी सारी ताकत लगा दी।

भारतीय वामपक्ष की कमजोरी

यद्यपि वामपक्ष ने काफी शोर मचाया, पर वह इतना मजबूत नहीं था कि कोई पृथक संग्राम छेड़ सके। वामपक्ष की यह कमजोरी न तो आकस्मिक है और न वामपक्षी नेताओं के कमजोर चरित्र के कारण

ही है । भारतीय वामपक्ष की कमजोरी और ढलमुलयकीना का कारण यह था कि वामपक्ष सम्पूर्ण रूप मे उसी वर्ग पर निर्भर रहता था जिस पर कांग्रेस निर्भर रहती है । इस प्रकार की अवस्था में वामपक्षी दल दक्षिणपंथी दलों या उपादानों से न तो अधिक भिन्न हो सकते थे और न वे कार्यक्षेत्र में ही अधिक गरम हो सकते थे।

साम्राज्यवादी शक्ति से युद्धोद्देश्य का पूछना

महायुद्ध के छिड़ने के बाद कांग्रेस ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से यह पूछने में कि उसका युद्धोद्देश्य क्या है बहुत सा बहुमूल्य समय खो दिया, मानो एक साम्राज्यवादी शक्ति का किसी युद्ध में पड़ने का साम्राज्य के विस्तार अथवा उसकी रक्षा के अलावा भी कुछ हो सकता था, मानो साम्राज्यवादी शक्ति किसी भी हालत में अपना साम्राज्यवादी चरित्र त्याग सकती थी। कांग्रेस के अन्दर कुछ ऐसे महानुभाव थे जो अपने को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अगड़धत्त पंडित मानते हैं, पर यही उनके ज्ञान का परिणाम था।

प्रगतिशील हिस्से का दबाव

जो कुछ भी हो वामपक्षियों, प्रगतिशील दक्षिणपंथियों का दबाव तथा जनता की क्रमशः बिगड़ती हुई हालत ने कांग्रेस को कुछ करने के लिये मजबूर कर दिया। पर नेता लोग अभी तक करें या न करें में पड़े थे। मंत्रिमंडलों से लाभ उठाया हुआ सुधारवादी हिस्सा कांग्रेस को पीछे की तरफ घसीट रहा था। इनके लिये मंत्रिमंडलों का अन्त जगत का अन्त था और सांगठनिक रूप से कांग्रेस अधिकांशरूप में इन्हीं लोगों के हाथों में थी, जो किसी भी तरह पदलोलुप ऐसे लोगों के अतिरिक्त कुछ नहीं थे जिन्होंने पदों के दाम के रूप में हर दस साल जेल जाना मंजूर कर लिया था।

कांग्रेस आधे दिल से कार्यक्षत्र में—वैयक्तिक सत्याग्रह

अन्त तक कांग्रेस को आधे दिल से कार्यक्षेत्र में उतरना पड़ा।

इस प्रकार वैयक्तिक सत्याग्रह आन्दोलन की उत्पत्ति हुई। यह एक बहुत ही हास्यास्पद बात थी कि लोग पहले से इत्तला देकर एक खास जगह पर पहुँचें और वहां न एक पाई न एक भाई या इस किस्म का कोई नारा देकर गिरफ्तार हो जावें। पर यही इस आन्दोलन में किया गया। इस आन्दोलन की कल्पना मूर्खतापूर्ण थी और इस को इस प्रकार काम में लाया गया कि उस से एक पोला रोगग्रस्त दृष्टिकोण सूचित होता था।

प्रतीकवादी आन्दोलन

इस आन्दोलन के महान संचालकों के अनुसार यह आन्दोलन प्रतीकवादी (Symbolical) था। राजनैतिक विचारों का कितना दिवालियापन था ? ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ऐसे भयंकर यंत्र के साथ एक प्रतीक से लड़ने चलना एक ऐसा विचार था जिस से ज्ञान होता था कि गान्धीवाद जिसने सुयोग्य ठाठ के साथ भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण किया था अब सम्पूर्ण रूप से ह्रासशील हो चुका था और अब वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ कैसे लड़ा जाय इसका कोई उपाय इसे नहीं सूझ रहा था। एक प्रतीक के साथ तो एक प्रतीक से लड़ा जा सकता था पर साम्राज्यवाद एक प्रतीक तो था नहीं। यह बात सच है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद इस लड़ाई के लिये अच्छी तरह तैयार नहीं था, इसलिये यह एक विपत्ति में फँस गया था, पर वह चाहे जितना कमजोर हो गया हो और चाहे जितनी विपत्ति में फँस गया हो, पर वह अब भी लूट और सताने का एक बहुत जबर्दस्त यंत्र बना हुआ था। इस सम्बन्ध में यह मजेदार है कि नेहरूजी प्रथम वैयक्तिक सत्याग्रही होने वाले थे। यह नहीं मालूम कि कहां तक पंडितजी ने इच्छापूर्वक ऐसा होना स्वीकार किया था और कहां तक यह उनके ऊपर लादा गया था। जो कुछ भी हो सरकार उनकी सहायता कर गई। वे गिरफ्तार हो गये, और इस भद्द से

बच गये और सत्याग्रह करने के पहले ही एक व्याख्यान के लिये वे जेल पहुँच गये।

वैयक्तिक सत्याग्रह बिलकुल व्यर्थ नहीं, पर...

फिर भी यह नहा कहा जा सकता कि वैयक्तिक सत्याग्रह आन्दोलन बिलकुल व्यर्थ था। कोई भी संग्राम ही एकदम व्यर्थ नहीं जाता, चाहे वह एक प्रतीकवादी संग्राम ही क्यों न हो। न कुछ करने से प्रतीकवादी संग्राम ही अच्छा था। अब ऐसी हालत पहुँच चुकी थी कि युद्ध के विरुद्ध उठाई गई उंगली भी हितकर थी। जब वैयक्तिक सत्याग्रह के फलस्वरूप एक एक करके भारत के जगतप्रसिद्ध व्यक्ति तथा कल के मंत्री और प्रधान मंत्री गिरफ्तार होते गये तो इस से जगत के सामने यह बात साफ हो गई कि वास्तविक प्रतिनिधि स्थानीय भारतीय लड़ाई के साथ नहीं थे। पर ऐसी हालत में जब कि हमारे साथ जो लोग सहानुभूति कर सकते थे ऐमे लोग, जैसे मान लीजिये अमेरिकनगण स्वयं ही जीवन-मरण के संग्राम में उतरने वाले थे, इस स्पष्टोकरण से क्या आता जाता था। इस समय जिस बात की जरूरत थी, वह था असली वास्तविक संग्राम न कि क्रन्दनोत्पादक नाटकीय विषय।

वैयक्तिक सत्याग्रह का सरकार पर कोई असर नहीं

जहां तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सम्बन्ध है, उसने इस आन्दोलन की कोई परवाह नहीं की। बात यह है कि अब सरकार पर इस तरह के दबाव का कोई असर नहीं रह गया था। परिस्थिति का तकाजा यह था कि कोई नया अस्त्र निकाला जाता और साम्राज्यवाद के विरुद्ध काम में लाया जाता। इस में गान्धीवादी नेतृत्व सम्पूर्ण रूप से असफल रहा। इसके दिन लद चुके थे। वैयक्तिक सत्याग्रह ने मानो उस तरह की दबाव मूलक राजनीति की मरणदुन्दुभि बजा दी जिसके गान्धी जी ही जनक और विशेषज्ञ थे। इसका अर्थ यह नहीं

लगाना चाहिये कि व्यक्तिगत रूप से गान्धी जी के नेतृत्व के दिन लद गये थे। बिलकुल नहीं। इसके बाद भी गान्धी जी नेता रह सकते थे और तथ्य तो यह है कि रहे। पर इसके बाद वे शक्ति पर कब्जावाली जिस नीति का घटनाओं के तर्क से शनैः शनैः उदय हो रहा था, उससे चश्मपोशी कर ही नेता रह सकते थे। मैं इस पहेलू पर आऊंगा, पर इस सिलसिले में इतिहास से एक ऐसे उदाहरण का दिया जाना अप्रासंगिक न होगा, जहां वस्तु का नाम वही रहा, पर अन्तर्गत वस्तु बराबर बदलती गई।

वैदिक धर्म के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह अत्यन्त पुराकाल से अब तक मौजूद है, पर क्या वस्तुस्थिति ऐसी ही है ! शताब्दियों के दौरान में इसमें नये-नये देवता और नई-नई पद्धतियां आकर शामिल होती गई। यह प्रक्रिया यहां तक चली कि पहले के वैदिक देवता अपनी पद्धतियों के साथ इसमें से निकाल बाहर कर दिये गये और बुद्ध की तरह एक विद्रोही को दस अवतार की देव मंडली में स्थान मिल गया।

१९४२ को गान्धीवाद हजम नहीं कर सकता

इसी प्रकार से गान्धी जी और गान्धीवाद इस बात की बहुत जबर्दस्त चेष्टा कर रहे हैं कि १९४२ के संग्राम को पूरे का पूरा निगल लें। पर इस प्रकार अपनी रक्षा करने की चेष्टा में या तो उसमें गंभीर आवयविक परिवर्तन होंगे जिस से वह जो था वह रहेगा ही नहीं, या वह विनाश को प्राप्त होगा। गान्धीवाद की पाकस्थली या आंते कहां तक इस जबर्दस्ती निगले हुए विदेशी उपादान को सह सकेगी यह अभी भविष्य के गर्भ में है, पर जहां तक मालूम होता है इसे अन्त तक उगल देना पड़ेगा और इस उगलने की क्रिया में शायद इन पर इतना जोर पड़े कि इसका खातमा ही हो जाय। बात यह है कि १९४२ का संग्राम गान्धीवादी पद्धति से आवयविक तथा गुणगत रूप से भिन्न है।

कुछ सत्यता के साथ यह कहा जा सकता है कि गत दसियों साल में गान्धीवाद में परिवर्तन हुए हैं, ठीक है, पर जैसा कि फ्रेञ्च लोग कहते हैं 'यह जितना ही बदला है, उतना ही पूर्ववत रहा है।' गान्धीवाद कोई ऐसी पद्धति नहीं है जो सील मुहर से बन्द हो, पर फिर भी यह कुछ न कुछ बन्द पद्धति है. इसके कुछ मत है, इसलिये एक सीमा तक ही इसमें परिवर्तन हो सकते है।

१९४२ के वीर गान्धीवादी वीर नहीं।

मैंने कुछ हद तक १९४२ की क्रान्ति का विश्लेषण किया है। पहली बात तो यह है कि इस संग्राम को किसी भी प्रकार अहिंसात्मक नहीं कहा जा सकता। बल्कि यह संग्राम भारत के तथा अन्य देशों के क्रान्तिकारी आन्दोलनों की तरह था, किसी भी हालत में १९२०-४० के गान्धीयुग के आन्दोलनों के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। प्रत्येक नये आन्दोलन के साथ एक नई किस्म के मानवों का उदय होता है। नई किस्म के वीर तथा वीरायें सामने आती हैं। १९४२ के राजनारायण मिश्र, महेन्द्र चौधरी, फुलैना प्रसाद आदि ज्ञात तथा अज्ञात वीर चाफेकर बन्धुओं, खुदीराम, कन्हाईलाल, करतार सिंह, रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकुल्ला, राजेन्द्र लाहिड़ी, भगतसिंह और आजाद की श्रेणी में आते हैं। वे सम्पूर्ण रूप से तथा कहना चाहिये गुणगत रूप से विनोबा भावे, मशरूवाला, जाजू और इस प्रकार के लोगों से भिन्न थे।

गान्धी जी बात बनाकर दिन को रात और रात को दिन बनाने की कला में अद्वितीय हैं, पर वे इस कला में कितने भी निपुण हों और अध्यात्मवाद की कितनी भी कलाबाजियाँ करें, वे १९४२ के वीरों को विनोबा भावे की श्रेणी में नहीं ले जा सकते। १९४२ की प्रशंसा कर गान्धीवाद में चार चाँद लगाना मुश्किल है। शायद इसी बात को समझ जाने के कारण ही असली गान्धीवादी अपने

व्याख्यानों तथा वक्तव्यों में १६४२ का उल्लेख क्रमशः कम करते जा रहे हैं।

दूसरा अध्याय

१६४२ की क्रान्ति की उत्पत्ति

नेतागण १९४२ नहीं चाहते थे

अब यह देखा जाय कि १६४२ की क्रान्ति कैसे शुरू हुई। प्रारंभ के सम्बन्ध में यह खोज बहुत ही जरूरी है क्योंकि इससे इसके चरित्र पर खूब रोशनी पड़ेगी। क्या अगस्त प्रस्ताव के महान प्रस्तावकगण इस प्रकार की क्रान्ति चाहते थे? नहीं, एक हजार बार नहीं। यदि हम गान्धी जी तथा उनके आसपास के लोगों का विश्वास करें, तो हमें कहना पड़ेगा कि ये महानुभाव इस प्रकार की क्रान्ति नहीं चाहते थे।

अगस्त प्रस्तावमें १९४२की क्रान्ति अन्तर्निहित नहीं थी

८ अगस्त का 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव बहुत ही साफ शब्दों में कहता है:—

"इसलिये कमेटी यह निर्णय करती है कि आजादी तथा स्वतन्त्रता के लिये भारतवर्ष के अविच्छेद्य अधिकार की माँग के रूप में अधिक से अधिक विस्तृत पैमाने पर अहिंसात्मक रूप में जन-संग्राम का सूत्रपात किया जाय जिससे देश ने गत २२ वर्षों में जिस अहिंसात्मक बल का संग्रह किया है, उसे काम में लाया जा सके।...उन्हें यह स्मरण रखना चाहिये कि इस आन्दोलन का

आधार अहिंसा है। ' "

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बहु प्रचारित अगस्त प्रस्ताव में १९४२ की क्रान्ति अन्तर्निहित नहीं थी। केवल एक भयभीत, आतंकग्रस्त, ह्रासशील, मुमूर्षु साम्राज्यवाद ही इस प्रस्ताव में क्रान्ति के बीजाणु देख सकता था।

दूसरी शक्तियां, मशरूवाला का लेख

पर यह कहा जा सकता है कि यह प्रस्ताव तो असली वस्तु का छिलका मात्र था और इसकी आड़ में दूसरी शक्तियाँ काम कर रही थीं। अवश्य ही दूसरी शक्तियाँ काम कर रही थीं। उदाहरणार्थ १९४२ के २३ अगस्त के 'हरिजन' में श्री के० जी० मशरूवाला ने एक ऐसा लेख लिखा जिसमें यह कहा गया था कि ऐसे सब तोड़फोड़ के काम जायज हैं जिनमें हत्या न होती हो। जिस समय श्री मशरूवाला ने यह लेख लिखा था, उस समय गान्धी जी जेल में पहुँच चुके थे, इसलिये 'हरिजन' में उन्होंने जो कुछ भी लिखा, उसकी जिम्मेदारी गाँधी जी पर नहीं डाली जा सकती। यह कहा जा सकता है कि श्री मशरूवाला गांधीवाद से च्युत हो गये थे, जैसा कि वे हो गये थे। गाँधी जी को ज्यों ही मशरूवाला जी के इस लेख के सम्बन्ध में मालूम हुआ त्यों ही उन्होंने वायसराय को ऐसा लिख भी दिया।

गान्धी जी द्वारा मशरूवाला का तिरस्कार

गाँधी जी ने वायसराय को लिखा "श्री मशरूवाला एक बहुत ही मूल्यवान साथी हैं। वे अहिंसा को इस हद तक पहुँचा देते हैं कि जो लोग उन्हें नहीं जानते दङ्ग रह जाते हैं। फिर भी उन्होंने जो पैरा लिखा है, उसकी मैं पैरवी करने के लिये तैयार नही हूँ। उन्होंने यह कह कर अपनी बचत तो कर ही ली है कि यह उनका वैयक्तिक मत है। उन्होंने मुझे इस विषय पर तर्क करते हुये सुना होगा कि रेलों, पुलों आदि में हस्तक्षेप को अहिंसा के अन्तर्गत माना जा सकता है

या नहीं। चाहे इस प्रकार का हस्तक्षेप अहिंसात्मक रूप में कार्यान्वित किया जाय, जैसा कि मैं समझता हूँ किया जा सकता है, फिर भी इस कार्यक्रम को जनता के सामने रखना खतरनाक है क्योंकि उससे यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि ऐसा करते हुए वह अहिसात्मक रहे।...इस प्रकार एक सम्मानित साथी के मत की आलोचना करने के बाद मैं यह समझता हूँ कि उनका उद्देश्य हिंसात्मक नहीं था। अधिक से अधिक इसमें उन्होंने चीज को समझने-तौलने में गलती (error of judgement) की।"

स्वयं गान्धीवाद में वामपक्षी प्रवृत्ति ?

इससे यह ज्ञात होता है कि उल्लिखित लेख को लिख कर मशरूवाला गाँधीवाद से च्युत हो गये थे, पर चाहे वे गाँधीवाद से च्युत हो गये हों या न हुये हों, इससे यह ज्ञात होता है कि ऐन अगस्त संग्राम के पहले गाँधी जी के बहुत पास रहने वाले लोगों में कैसी बातचीत रहती थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि गाँधी जी के प्रधानतम शिष्यों में कुछ लोग इस नतीजे पर पहुँच चुके थे कि अपने पुराने स्वरूप तथा आकार में गाँधीवाद अब असर पैदा नहीं कर सकता था, तथा इसके दबाव मूल्य को जो इस समय शून्य के विन्दु तक पहुँचा था बढ़ाने के लिये कुछ परिवर्तन जरूरी है। इस प्रकार स्वयं गाँधीवाद के अन्दर ही एक वामपक्षी प्रवृत्ति दृष्टि गोचर हो रही थी। पाठक को इससे १६ वीं सदी में हेगेलवाद के अन्दर की वामपक्षी प्रवृत्तियों का स्मरण हो आयेगा। नवयुवक मार्क्स पहले वामपक्षी हेगेलवादी थे। यह दिखलाता है गाँधीवाद स्वयं भीतर से संकटग्रस्त हो रहा था। पर अभी स्वयं गाँधी जी जीवित थे। उन्होंने फौरन इस प्रवृत्ति का गला घोंट दिया। इस प्रकार गाँधीवाद का विनाश निश्चित हो गया।

श्री महादेव देसाई का लेख

ऐसा कहा जा सकता है कि एक प्रधान शिष्य के पदस्खलन क तिल को लेकर हम ताल कर रहे हैं। परन्तु नहीं, ऐसा पदस्खलन केवल एक नहीं था। परलोकगत श्री महादेव देसाई गांधीवाद के प्रकांड पंडित समझे जाते थे और थे। गाँधी जी के सिद्धांत में पारदर्शी होने के साथ उन्होंने गुरु के साथ निरंतर सत्संग से अपनी गांधीवादी बुद्धि को खूब प्रखर तथा ऐश्वर्यशाली बना लिया था। १६४२ के ६ अगस्त को उन्होंने 'अहिंस असहयोग के तरीके' शीर्षक से लिखा था:—

"१६४२ से हम अहिंस असहयोग के कुछ तरीकों से परिचित रहें हैं। इसमें सरकारी संस्थाओं तथा नौकरियो का बायकाट और टैक्सबन्दी भी थी।" पर अब "शत्रु के सारे कर्मक्षेत्र तक अपने असहयोग को अहिंसा के दायरे में ले जाना पड़ेगा।"

स्मरण रहे कि यह लेख १६४२ के ६ अगस्त के 'हरिजन' में प्रकाशित हुआ था। यह वही दिन था जिस दिन १६४२ के संग्राम का सूत्रपात हुआ था। स्वाभाविक रूप से सरकार ने कांग्रेस पर 'तोड़फोड़' का दोषारोपण करते हुये इस लेख का हवाला दिया।

गान्धी जी द्वारा महादेव देसाई का दोषस्खालन

पर गाँधी जी ने महादेव जो देसाई को इन शब्दों में पैरवी की:—

"उस लेख के लेखक ने भारत के अतिरिक्त और देशों में होने वाले असहयोग के तरीकों तथा नमूनों को गिनाया है। वे सज्ञान रूप से काम में लाई गई अहिंसा के उपाय नहीं है। लेख के अन्तिम पैरा से यह स्पष्ट है कि यह लेख जापानी आक्रमण के प्रतिरोध के विरुद्ध क्या क्या किया जा सकता है, इसी को दृष्टिकोण में रखकर लिखा गया था।"

जापान के विरुद्ध जो बातें अहिंसा, साम्राज्यवाद के विरुद्ध भी वे अहिंसा ?

अवश्य ही श्री देसाई ने इस लेख को अधिकांश रूप में संभावित जापानी आक्रमण को सामने रखकर लिखा था। पर गान्धी जी के मुँह से यह सफाई शोभा नही देती क्योंकि वे तो निर-विच्छिन्न अहिंसा के मनाने वाले हैं। यदि जापानियों के आक्रमण के विरुद्ध रेल और पुलों का तोड़फोड़ करना अहिंसा है, तो साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ते समय यह तरीका अहिंसा क्यों न समझी जाय ? इस प्रकार का तर्क एक वकील को शोभा देता है और शायद ये तर्क वायसराय को जापानी विरोधी भावनाओं का फायदा उठाने के लिये दिये गये थे न कि अहिंसा की महिमा दिखाने के लिये।

गान्धीवादियों में भी गान्धीवाद पर असंतोष

इस प्रकार ऐन अगस्त के पहले गान्धी जी की अत्यन्त अन्तरंग शिष्यमडली में 'अपवित्र' बातों की चर्चा जारी थी। इस पुस्तक के सीमित दायरे में इससे अधिक ब्यौरे में नहीं जाया जा सकता, पर यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि बड़े से बड़े गान्धीवादियों में एक व्यर्थता की भावना फैली हुई थी और इसके फलस्वरूप यह समझा जाता था कि गान्धीवाद में कुछ परिवर्तन तथा सुधार की आवश्यकता है। वैयक्तिक सत्याग्रह ऐसी आध्यात्मिक शक्तियों को मुक्त करने में असमर्थ रहा जो साम्राज्यवाद पर विजय प्राप्त करतीं, इस कारण गान्धीवाद से गान्धीवादियों में भी असन्तोष होना ठीक ही था।

स्वयं गांधी जी की रहस्य जनक बातें

स्वयं गान्धी जी बराबर अहिंसा का राग अलापते रहे, पर वे भी कभी कभी चूक जाते थे, यह बात उनके इन कथनों से स्पष्ट है। उन्होंने १९४२ की १९ जुलाई को लिखा था "इस बार मैं मांगकर जेल नहीं जाने वाला हूं। इस संग्राम में मांगकर जेल जाना नहीं है।

यह बहुत ही नरम चीज होगी। अवश्य अब तक हमने मांग कर जेल जाने का व्यापार कर लिया था। अब की बार मेरा इरादा यह है कि चीज को जहां तक हो सके शीघ्र तथा ह्रस्व किया जाय।"

गान्धी जी के कथन से भ्रम उत्पन्न

अब इस कथन के विषय में कुछ भी कहा जाय तो यह बहुत ही भ्रम में डालने वाला था। अब तक दक्षिण अफ्रीका से लेकर वैयक्तिक सत्याग्रह तक गान्धी जी ने जितने भी आन्दोलन चलाये थे, उन सब में मांगकर जेल जाने का कार्यक्रम था। यदि अबकी बार के आन्दोलन में लोग मांग कर जेल नहीं जाने वाले थे, तो वे क्या करने वाले थे। क्या वे अबकी बार गिरफ्तारी से अपने को बचाने वाले यहाँ तक कि फरार होने वाले थे ? यदि यह बात थी, तो कहाँ तक कट्टर अहिंसा का पालन करने वाले थे ? ये कुछ ऐसे प्रश्न थे, जिनसे हरिजन' का साधारण पाठक पीड़ित हो रहे थे और हतबुद्धि रह जाते थे। हरिजन' का साधारण पाठक, इन बातों को पढ़कर यही समझता था कि गान्धी जी में कुछ परिवर्तन हो गया था और अबकी बार कोई ऐसी बात होने वाली थी जो पहिले कभी नहीं हुई थी। ऐसी कोई बात जो बहुत ही अनहोनी और न्यारी थी।

अन्त तक जाने की धमकी

गाँधीजी ने 'हरिजन' के अगले अंक में यों लिखा "आन्दोलन को नरमी से चलाने के लिये जितने भी एहतियात हो सकते हैं, मैं उतने एहतियात लूँगा। पर यदि मैं देखूंगा कि ब्रिटिश सरकार तथा मित्र शक्तियों पर किसी प्रकार से छाप नहीं पड़ रही है (no impression is produced) तो मैं अन्त तक जाऊंगा। भारत में जो कुछ होगा उसके लिये यह उचित ही है कि मैं मित्र शक्तियों को जिम्मेदार समझूँ, क्यों कि यह चीज उनके हाथों में है कि लड़ाई में बाधक जो कुछ भी किया जाने वाला है, उसको न होने दें।"

भ्रम बढ़ा

गांधी जी के इस प्रकार के मन्तव्य से मामला और भी अस्पष्ट हो गया। सत्याग्रह कैसे ह्रस्व तथा शीघ्र हो सकता था ? आखिर गान्धी जी ने इस लेख में यह जो कहा था कि वे अन्त तक जायेंगे, यह अन्त क्या था ? इन लेखों को पढ़कर साधारण पाठक के मन में ये प्रश्न उठते थे और वह हतबुद्धि रह जाता था और 'हरिजन' के ये ही पाठक वे लोग थे जो अपने जिलों और तहसीलों में सब कुछ करने धरने वाले थे।

जीवन की शक्ति के रूप में मृत्यु !

जब इस प्रकार के लेखों तथा वक्तव्यों से सार्वजनिक मन आन्दोलित हो चुका था और अज्ञात की प्रतीक्षा ने साधारण व्यक्ति के मन को आलोड़ित कर दिया था, उस समय गान्धी जी के प्रधानतम शिष्य श्री मशरूवाला ने 'हरिजन' में एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था 'जीवन की शक्ति के रूप में मृत्यु।' अवश्य ही यह शीर्षक ही अजीबोगरीब भावना उत्पन्न करने वाला था। मृत्यु जीवन की शक्ति कैसे हो सकती थी ! साधारण समय में ही यह शीर्षक बहुत अजीब समझा जाता, पर परिश्रम से तैयार किये हुये इस वातावरण में यह लेख तालाब में फेंके गये एक ऐसे पत्थर की तरह साबित हुआ जो अजीब प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न करता है। पर ये प्रतिक्रियायें कितनी भी अजीब हो, एक बात तो बिलकुल साफ मालूम हो रही थी, वह यह कि आगामी आन्दोलन आश्चर्यों से पूर्ण होने वाले थे। अवश्य ही मशरूवाला ने व्यर्थ ही में यह लेख नहीं लिखा था।

श्री मशरूवाला ने इस लेख में लिखा था, "नहीं, ऐसे भी समय आते हैं, जब मृत्यु की शक्तियाँ एक सजीव जीव की बुद्धियुक्त क्रिया से अधिक असरदार हो सकती है। ..सदियों की गुलामी ने भारतवर्ष में जीवन को उतना ही अन्धकारपूर्ण बना दिया है जितना

कि अन्धकारपूर्ण मृत्यु के सम्बन्ध में समझा जाता है कि वह है। कोई भी कठिनाई, कोई भी विपत्ति या भयंकर से भयंकर विपत्ति भी हमारे लिये इतनी प्रबल नहीं है कि वह हमें पुरुषार्थ के लिए प्रस्तुत कर सके। हम जीते क्या हैं, हमारा जीवन एक जीवित मृत्यु है। यह असंभव है कि क्रांति का जिसे जीवित कर्मशक्ति भी नहीं ला सकती भारत की अच्छी से अच्छी सन्तानों को स्वेच्छामृत्यु की जरूरत है। अवश्य जिससे कि यह एक शक्ति हो सके न कि महज बहादुरी या निराशा में किया गया कृत्य, इस पर इच्छापूर्ण कार्य के रूप में या अहिंसा की रणनीति के रूप में विचार करना पड़ेगा। मृत्यु के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण के अनुसार उपयुक्त परिस्थित में की गई आत्महत्या को प्रथम स्थान प्राप्त होता है, न कि केवल एक सहनयोग्य स्थान जैसा कि गान्धी जी कहते हैं। अनशन को एक मान्य हैसियत प्राप्त होगी, न कि सर्वोपरि हैसियत।"

इस लेख से रहस्वाद में वृद्धि

इस लेख के शब्द इतने अस्पष्ट है कि मैं तो यहीं समझता हूँ कि कोई भी व्यक्ति इसको बे सिर पैर का बतलाने के लिये बाध्य होगा। इससे केवल एक ही ध्वनि निकलती थी कि नमालूम कोई भयंकर और अनहोनी बात होने वाली है, पर यह भयंकर बात क्या होगी, किस प्रकार की होगी, इस सम्बन्ध में कुछ पता ही नहीं लगता था।

स्नायुओं को प्रबल लड़ाई

अगस्त १९४२ में जिस समय अखिल भारतीय कांग्रेस को बैठक होने वाली थी, उस समय तक मानसिक रूप से सारा वातावरण तैयार कर लिया गया था। इस बिजली से पूरित वातावरण में अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक बड़े ठाठ से हुई। यों इस बैठक में जो प्रस्ताव पास किया गया, उसे यदि अकेला लिया जाय तो उसमें कोई भी ऐसी बात नहीं थी जो किसी प्रकार भी खतरनाक कहा जा सके। कम से

कम इसके पहले के आन्दोलनों की घोषणा करते हुये जो प्रस्ताव पास हुये थे. उनमें यह प्रस्ताव किसी भी अंश में अधिक खतरनाक नहीं था। गान्धी जी ने तथा उनका अनुसरण कर हाई कमांड ने स्नायुओं की अच्छी लड़ाई (War of nerves) चलाई थी। जनता अन्तिम वार करने के लिये तैयार थी। साथ ही सरकार के भी स्नायु अवर्णनीय रूप से बिगड़ चुके थे। इसकी दोषी आत्मा पर एक अस्पष्ट आतंक छाया हुआ था। असीम घबराहट में इसने नेताओं को गिरफ्तार कर लिया था।

नेताओं की गिरफ्तारी पर मशरूवाला की हिदायतें

इसके बाद श्री मशरूवाला 'हरिजन' के कर्ताधर्ता हो गये। पत्र के १६ अगस्त की संख्या में उन्होंने लिखा "ऐसे काम करो मानो तुम्हारे लिए सरकार रह ही नहीं गई है और जो लोग तुम्हारे पास सरकारी कर्मचारी के रूप में आते हैं उनको ऐसे देखो मानो अनधिकारी रूप से घर में घुस आये हों या आक्रमणकारी हों। अहिंसात्मक तरीके से उन सब का प्रतिरोध करो। अपनी पद्धति या सरकार (order) कायम करो।

मशरूवाला के लेख से अंग्रेजी राज्य की हालत जापानी आक्रमण की सी हो गई

श्री मशरूवाला के ये आदेश बहुत ही ध्यान योग्य इस अर्थ में हैं कि गान्धी जी ने श्री महादेव देसाई के 'अहिंसात्मक असहयोग के तरीके' शीर्षक लेख की जो सफाई दी थी, उसकी इससे धुर्री उड़ जाती है। मशरू वाले के अनुसार ब्रिटिश शासकों को आगे से अनधिकार प्रवेशकारी या आक्रमणकारी समझा जाने वाला था। इस लिये श्रीमहादेव देसाई तथा उनके गुरु गान्धी जी के तर्क के अनुसार रेलों और पुलों का तोड़फोड़ जायज था क्यों कि जापानियों के हमले के विरुद्ध ये उपाय जायज बताये गये थे और मशरूवाला के अनुसार

इस प्रस्ताव के बाद अंग्रेज भी आक्रमणकारी समझे जाने वाले थे।

आंध्र की गश्ती चिट्ठी

इतना ही नहीं। गान्धी जी जिन दिनों बाहर थे, उन्हीं दिनों उन्हीं के इर्द गिर्द अजीब अजीब कानाफूसी हो रही थी और 'हरिजन' में समय समय पर अस्पष्ट इंगित आ रहे थे। और भी कुछ ठोस बातें हो रही थीं। उदाहरणार्थ हम आन्ध्र की उस गश्ती चिट्ठी को लें जिसमें कांग्रेस जनों में तार काटने की सिफारिश की गई थी। मद्रास सरकार तथा भारत सरकार ने बारबार इस गश्ती चिट्ठी का हवाला यह प्रमाणित करने के लिये दिया कि अव्यवस्थित भीड़ नहीं बल्कि कांग्रेस के नेता गण रेल और तार में हस्तक्षेप तथा तोड़फोड़ के कार्यक्रम के लिये जिम्मेदार थे।

आन्ध्र की गश्ती चिट्ठी पर सरकार का प्रस्ताव

इस विषय पर सरकारी प्रस्ताव यों था 'कौंसिल में गवर्नर जनरल को पता रहा है कि कुछ दिनों से कांग्रेस दल ने बराबर गैरकानूनी और कुछ क्षेत्रों में हिंसात्मक कार्रवाइयाँ की हैं। ऐसी कार्रवाइयों में रेल तार, यातायात तथा समाचार के साधनों में तोड़फोड़, हड़तालों की तैयारी, सरकारी फौजों का बरगलाना तथा युद्ध तैयारियों में विशेष कर भर्ती में बाधा देना था।"

गान्धी जी द्वारा प्रतिवाद

गान्धी जी ने आगा खाँ प्रासाद से लिखते हुये अपने पहले ही पत्र में अर्थात १९४२ के १४ अगस्त के पत्र में इस अभियोग का प्रतिवाद किया। उन्होंने कहा 'यह सत्य का भयंकर अपलाप है। किसी भी हालत में हिंसा करने का कार्यक्रम नहीं था। अहिंसात्मक क्रिया में क्या आ सकता है और क्या नहीं, इसका अजीब दुष्टतापूर्ण तथा सूक्ष्म अर्थ लगाया गया मानो कांग्रेस हिंसात्मक कार्यों की तैयारी कर रही थी।"

वायसराय द्वारा खंडन

गान्धी जी ने इतने जोरों से प्रतिवाद किया, फिर भी वायसराय के सन्देह का निवारण नहीं हुआ। उन्होंने १९४२ को ५ फरवर वाले अपने पत्र में गान्धी जी को लिखा "मुझे इसका बहुत अच्छी तरह पता है कि अ० भा० कांग्रेस के नाम से प्रचलित गुप्त हिदायतों के अनुसार तोड़फोड़ का कार्य किया है, मुझे यह भी पता है कि सुपरिचित कांग्रेसजनों ने हिंसा तथा हत्या के कार्यक्रमों को संगठित किया है और उनमें भाग लिया है। इस समय भी एक गुप्त कांग्रेस संस्था काम कर रही है जिसमें कांग्रेस कार्य समिति के एक सदस्य की स्त्री प्रमुख भाग ले रही है और यह संस्था बम के साथ आक्रमणों तथा आतंकवाद को संगठित कर रही है जिससे सारा देश विक्षुब्ध है।"

राष्ट्रपति द्वारा भी प्रतिवाद

गान्धी जी ने फिर भी कांग्रेस द्वारा ऐसी तैयारी किये जाने के सम्बन्ध में इनकार ही किया। कार्य समिति की तरफ से राष्ट्रपति ने भी अपनी नजरबन्दी के स्थान से गान्धी जी के तरीके पर १९४३ की १३ फरवरी को एक पत्र सरकार को लिखा। उसमें राष्ट्रपति ने लिखा था "मैं इस बात को बिलकुल साफ कर देना चाहता हूँ कि जहाँ तक कि हम लोगों का सम्बन्ध है, वह चाहे हम लोगों की वैयक्तिक हैसियत में हो या सामूहिक हैसियत में हो, या उस संस्था की तरफ से हो जिसके हम लोग हैं, हम लोग आपके इस चार्ज को सम्पूर्ण रूप से झूठा तथा नींवहीन बतलाते है कि हम लोगों ने गुप्त आन्दोलन संगठित किया है।"

आंध्र गश्ती चिट्ठी पर राष्ट्रपति

इसी पत्र में राष्ट्रपति ने विशेष रूप से आन्ध्रवाली गश्ती चिट्ठी के सम्बन्ध में जानकारी से इन्कार किया। उन्होंने लिखा "अभी अभी

जो पत्र व्यवहार छपा है, उसके साथ जो विज्ञप्ति निकली है, उस में एक गश्ती चिट्ठी का उल्लेख किया गया है जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह आन्ध्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के द्वारा प्रचारित हुई थी। हम लोग इस गश्ती चिट्ठी के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते हैं, और हम यह विश्वास नहीं कर सकते हैं कि कांग्रेस के मौलिक वसूलों के विरुद्ध किसी जिम्मेदार कांग्रेसी ने ऐसी हिदायतें दी होंगी। फिर भी इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि इस गश्ती चिट्ठी के सम्बन्ध में सरकारी वक्तव्यों में विभिन्न बातें कही गयी हैं। २६ अगस्त १६४२ में मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित एक सरकारी वक्तव्य में इसका पहला उल्लेख किया गया। इस वक्तव्य में यह कहा गया कि इस गश्ती चिट्ठी में और बातों के साथ साथ रेल की पटरियों के उखाड़ने की हिदायत थी। इस वक्तव्य के दो ही सप्ताह बाद हौउस आफ कामन्स में बोलते हुये मिस्टर एम० ने यह कहा कि इस गश्ती चिट्ठी में यह साफ साफ कहा गया था कि पटरियाँ न उखाड़ी जाय और किसी की जान को खतरे में न डाला जाय।"

राष्ट्रपति के वक्तव्य से स्थिति का स्पष्टीकरण

स्वाभाविक रूप से राष्ट्रपति के इस अधिकार पूर्ण वक्तव्य के बाद किसी भी देश भक्त को इस सम्बन्ध में सन्देह नहीं रह सकता था कि असली बात क्या है। यदि राष्ट्रीयतावादी भारत ने वर्षों के दौरान में कुछ सीखा था तो यह कि जिस समय पुलिस आतंकग्रस्त हो जाती है, उस समय वह न मालूम क्या क्या कल्पना कर लेती है और कल्पनाओं को तथ्य करके चलाने की चेष्टा करती है।"

तीन वर्ष बाद सीतारमैया के वक्तव्य से मामला फिर उभरा

उस समय के लिये मामला दब गया। बात यह है नेतागण जेल में थे, पर कोई तीन वर्ष बाद या निश्चित रूप से कहा जाय तो १६४५ की २० जुलाई को यह तर्क फिर उभड़ा। इस तारीख को

डाक्टर सीतारमैया ने बेजवाड़ा में बोलते हुये एक सनसनीपूर्ण बात कही। इस व्याख्यान की जो रिपोर्ट पत्रों में प्रकाशित हुई थी, वह यों थी:—

"कांग्रेस खादी प्रदर्शनी में व्याख्यान देते हुये डाक्टर सीतारमैया ने यह कहा कि वे ही कथित आन्ध्र गश्ती चिट्ठी के एक मात्र रचयिता थे और इसके लिये अन्य कोई व्यक्ति भी जिम्मेदार नहीं है। उन्होंने यह बताया कि इस गश्ती चिट्ठी में जो हिदायतें थीं, उनको उन्होंने गान्धी जी के साथ अच्छी तरह बातचीत करने के बाद प्राप्त किया था। डाक्टर सीतारमैया ने यह कहा कि इस गश्ती चिट्ठी में जो हिदायतें थीं, उनमें ताड़ तथा खजूर के पेड़ों का काटा जाना, म्युनिसिपलिटी के टैक्सों के अतिरिक्त अन्य टैक्सों की बन्दी तथा टेलीग्राम के तारों का काटना था। गान्धी जी के अनुसार यह अन्तिम बात निषिद्ध तो नहीं थी, पर इसकी सिफारिश नहीं की जा रही थी। महात्मा गांधी ने जिस खुले विद्रोह की कल्पना की थी, उसमें इस कथित गश्ती चिट्ठी में वर्णित सभी बातें आ जाती थीं पर उसमें रेल की पटरियों का उखाड़ा जाना या रेल के डब्बों का जलाया जाना बिलकुल मना था।"

सीतारमैया के वक्तव्य से कुहराम

श्री सीतारमैया का यह बयान बहुत ही गंभीर था और इसके छपते ही कट्टर गान्धीवादियों में कुहराम मच गया। बात यह है कि श्री सीतारमैया कोई ऐरेगैरे नत्थु खैरे नहीं थे। वे कांग्रेस के स्वीकृत इतिहास लेखक थे और कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य थे। इसलिये यह संभव नहीं था कि उनकी बातों को यों ही टाल दिया जाय। यह स्पष्ट था कि उन्होंने जो कुछ कहा था, उससे अब तक ऊंचे से ऊंचे कांग्रेसियों ने तथा गान्धी जी ने कुछ कहा था वह मेल नहीं खाता था। पर कांग्रेस के बड़े नेताओं ने अपनी बौखलाहट के बावजूद श्री

सीतारमैया से कोई सार्वजनिक वादविवाद नहीं किया, उसमें और बुराई का डर था, नमालूम क्या क्या खुलता। खुली बहस तो नहीं हुई पर पर्दे की आड़ में कुछ हुआ जरूर और विद्वान डाक्टर को कुछ पीछे हटना पड़ा। अब उन्होंने एक नये वक्तव्य में यह बताया कि गान्धी जी को इस गश्ती चिट्ठी के विषय में कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष कुछ भी जानकारी नहीं थी। श्री सीतारमैया ने नये वक्तव्य में सारा दोष अपने ऊपर ले लिया फिर भी सारी लीपापोती के बाद इतना तो रह गया कि सरकार ने इस गश्ती चिट्ठी को जालसाजी से तैयार नहीं किया था और यह भी पता हो गया कि इस गश्ती चिट्ठी में श्री सीतारमैया का हाथ था।

अरुणा तथा अच्युत के वक्तव्य से स्थिति पर रोशनी

इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति क्या थी, यह अब तक प्रकाशित वक्तव्यों में श्रीमती अरुणा आसफ अली तथा श्री अच्युत पटवर्द्धन ने राष्ट्रपति को जो पत्र लिखा था, सबसे अधिक रोशनी उसी से पड़ती है सच तो यह है कि सर्दार भगतसिंह ने अपने जिस वक्तव्य में मजदूर किसान वर्ग के अधिनायकत्व को क्रान्तिकारी दल का लक्ष्य बतलाया था, उसके बाद के वक्तव्यों में यही सब से अधिक महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी वक्तव्य है। अवश्य इस वक्तव्य में एक बहुत बड़ी त्रुटि है। इस वक्तव्य में साधन ही के स्पष्टीकरण पर सारा ध्यान दिया गया है। मौका तो इसी का था, पर यों ही चलते हुये लक्ष्य याने साम्राज्यवाद का उल्लेख कर दिया जाता, तो यह वक्तव्य सर्वांगसुन्दर हो जाता।

वक्तव्य का सारांश

मैं केवल इस वक्तव्य के प्रासगिक अंश को ही उद्धृत करूंगा।

"हम लोगों ने अहिंसा पर ११-१२-४५ को पास किया हुआ कार्य समिति का प्रस्ताव देखा है। इस प्रस्ताव का गत तीन वर्षों का

घटनाओं पर क्या असर पड़ता है तथा कांग्रेस की वर्तमान नीति इस प्रस्ताव के अनुसार परिचालित होने पर आगामी आन्दोलन या संग्राम पर इसका क्या प्रभाव पड़ सकता है, इस पर हमने खूब विचार कर लिया है ..। कोई एक दर्जन ऐसे कार्यकर्ता जो बहुत जिम्मेदार कांग्रेसी थे आपकी गिरफ्तारी के बाद बम्बई में उपस्थित थे। इन लोगों में कुछ ऐसे साथी थे, जिनके सम्बन्ध में यह संदेह नहीं किया जा सकता कि वे कभी गान्धी जी के सत्य और अहिंसा के प्रति विश्वासघात भी कर सकते हैं। इन साथियों के साथ हमारी यह जिम्मेदारी है कि हमने एक ऐसी संस्था संगठित की जिसके द्वारा हम उन हजारों कांग्रेसियों को तथा दूसरों को जो अब भी जेल के बाहर थे और १६४२ के ८ अगस्त के प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिये उत्सुक थे, ऐसी हिदायत देते थे जिसे हम जरूरी समझते थे। हम इस बात की बहुत अहम जरूरत समझते थे कि जो शक्तियां मुक्त हो रहीं हैं, उन्हें नेतृत्व दिया जाय। करीब करीब आपकी गिरफ्तारी के तुरन्त बाद से ही हिदायतें, आवेदन, घोषणायें (कांग्रेस रेडियों से) समय समय पर दी जाती थी और यह सब अखिल भारतीय कांग्रेस के नाम पर होता था। यदि हम इस सिलसिले में अपने कार्यों का उल्लेख कर रहें हैं, तो यह केवल इसलिये कि इन वर्षों के दौरान में जिस नीति का अनुसरण किया गया, उसके लिये। वैयक्तिक जिम्मेदारी लेने से हम नहीं हिचकते। इस सम्बन्ध में अखिल भारतीय कांग्रेस के नाम पर हमने जो जिम्मेदारी ले ली थी, कभी किसी ने हमारे हक पर प्रश्न नहीं किया, बल्कि सबने दिल खोलकर हमारी सब तरह से सहायता की। कांग्रेस की पुकार पर जनता ने जो अपने आप जबाब दिया, यह आधुनिक इतिहास की सबसे बड़ी घटना है। जब जनता ने एक बार खुले विद्रोह के मार्ग में पैर रक्खा, तो उसने इसकी मांग की कि अग्रसर और साहसी नेतृत्व दिया जाय। उन्होंने यह चाहा कि सरकारी

आतंकवाद में जहां तक संभव है, वहां तक संगठित हुआ जाय और कुछ समय के लिये इस सम्बन्ध में उनकी प्रतिभा विजयी रही। रेल की पटरियों के उखाड़ने, तार काटने, गुप्त कार्य, सरकारी लोगों का जोरदार बायकाट तथा अन्य बहुत से विषयों में स्पष्ट निर्देश दिये गये। धीरे धीरे सब लोग समझ गये कि क्या करना है।"

"अहिंसा के सम्बन्ध में कांग्रेस की नीति मुख्यतः परिस्थिति के अनुसार रही है। समय समय पर कांग्रेस ने व्यवहारिकता के अन्दर अहिंसा के दायरे की परिभाषा की है। भूतकाल में भी कांग्रेस ने गान्धीवादी अहिंसा के कट्टर तर्क को मानने से इन्कार किया है। कांग्रेस के प्रस्तावों के द्वारा यह बात प्रमाणित की जा सकती है।.. अ-हिंसा का सार यह है कि हम यह मानते हैं कि जो लोग सरकारी पद्धति को चलाते हैं, वे उतने नहीं, जितनी कि यह पद्धति जिसको सरकार कहते हैं सारी बातों के लिये जिम्मेदार हैं।.."

"हमारा उद्देश्य यह नहीं है कि विपुल परिमाणों में जो औपादानिक शक्तियां मुक्त हुई उनकी अवज्ञा की जाय और हम सारा श्रेय लें। फिर भी जो हजारों लाखों मन औपादानिक शक्तियां मुक्त हुईं, उनको एक आध माशा परिचालना हमने दी, जिसके गैर महीनों में नहीं बल्कि हफ्तों में ही ये शक्तियां पराजित हो जातीं।"

निजी तरीके से प्राप्त अन्य प्रमाण

मैं १६१६ के नवम्बर से रामगढ़ कांग्रेस के इर्द गिर्द दो मास जमानत पर बाहर रहने के अलावा बराबर १६४६ तक जेल में रहा। मुझे १६४२ के सम्बन्ध में व्यक्तिगत रूप से कुछ भी जानकारी नहीं है, पर अभी अभी इस संग्राम के मजे हुये दो वीरों का जो बयान उद्धृत किया गया, उसके अतिरिक्त मुझे अन्य अनेक साथियों के बयानों से मालूम है कि कई बड़े कांग्रेसियों ने १६४२ में ऐसे क्रान्तिकारी कामों में भाग लिया, जिन्हें किसी भी प्रकार गान्धी जी की

अहिंसा की तरह अस्पष्ट चीज के दायरे में नहीं लाया जा सकता मुझे यह भी मालूम है कि कई बहुत महत्वपूर्ण कांग्रेसी नेताओं को ऐसे कामों के लिये अदालत से सजा हुई थी जिन्हें किसी भी प्रकार अहिंसात्मक नहीं कहा जा सकता। सच तो यह है कि जेल में रहते समय १६४२ के सम्बन्ध के सजा पाये हुये बहुत से लोगों के साथ जेल में ही मुझे बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

प्रतिपाद्य क्या हैं ?

यहां पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि आखिर मेरा कहना क्या है। क्या मेरा यह कथन है कि सरकार ने कांग्रेस पर जो अभियोग लगाये थे, वे सत्य हैं ? नहीं, बिलकुल नहीं। इस सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य यह है कि एक पद्धति जो स्वयं लूट और हिंसा पर आधारित है; उसे एक ऐसी क्रान्तिकारी जनता को जो अपनी जंजीरों को तुड़ाने की चेष्टा कर रही है हिंसात्मक बताने का कोई हक नहीं है। तो क्या मेरा यह कहना है कि गान्धी जी बराबर ऊपर से तो अहिंसा की गाते थे और भीतर भीतर गुप्त रूप से कुछ और ही काम कर रहे थे ? यह भी नहीं। तो फिर जो सबूत इकट्ठा किया गया और अहिंसा के सम्बन्ध में गान्धी जी का दावा, इन दोनों बातों को कैसे सामंजस्य में लाया जाय ? मैं अभी इस प्रश्न पर आ रहा हूँ।

गान्धी जी खुले होते तो १९४२ न होता

सारे सबूतों से यह निर्विवाद सिद्ध रूप मे प्रमाणित है कि गान्धी जी १९४२ की क्रान्ति की तरह कुछ हो जिसे अरुणा तथा अच्युत चाहते थे ऐसा दिल से नहीं चाहते थे। यदि वे ९ अगस्त को गिरफ्तार न होते और उन्हें सरकार से बातचीत चलाने का मौका मिलता, तो वे कभी भी इस प्रकार की क्रान्ति का नेतृत्व नहीं करते। यदि सरकार से बातचीत का कोई नतीजा भी नहीं निकलता. तो वे

अवश्य आन्दोलन चलाते, पर वह आन्दोलन उनके द्वारा चलाये हुए दूसरे आन्दोलनों की तरह होता, न कि १६४२ की क्रान्ति की तरह।

फिर यह वातावरण क्यों पैदा किया गया ?

तो यह क्या बात थी कि वे बराबर आगामी आन्दोलन के सम्बन्ध में बड़े रहस्यवादी लहजे में उल्लेख कर रहे थे मानों इस बार वे कोई बहुत ही नई और अभूतपूर्व बात करने जा रहे हैं। क्यों वे रहस्यजनक रूप से रेल की पटरी उखाड़ना, तार काटना आदि के सम्बन्ध में ऐसे उल्लेख करते थे मानो वे इस विषय में भयानक उधेड़बुन में पड़े हुए हों कि अहिंसा में ये सब काम आ सकते हैं कि नहीं ? इन विषयों पर सोचते हुए वे क्यों मानसिक रूप से बहुत विध्वस्त और परेशान प्रतीत होते थे ? अहिंसा के साक्षात अवतार होते हुए भी उन्होंने अपने 'हरिजन' में श्री महादेव देसाई तथा श्री मशरुवाला के द्वयर्थक लेख क्यों छपने दिये ? उन्होंने बातचीत के दौरान में श्री सीतारमैया को यह धारणा कैसे और क्यों दे दी कि टेलीग्राफ के तारों का काटना शायद अहिंसा में आ सकता है ? महात्मा जी के दर्शन से लौटे हुए सभी व्यक्ति उन दिनों ऐसा क्यों ज्ञात होते थे कि वे वहीं से ऐसी गुप्त बातों से लदकर आये हैं जिन्हें वे मुश्किल से अपने अन्दर समा पा रहे हैं ?

गान्धी जी समझे थे कि आगे उनका तरीका बेकार होगा

बात यह है कि महात्मा जी इस बात को भली भाँति समझ गये थे कि अब उनकी किस्म की दबावमूलक राजनीति से कोई असर नहीं प्राप्त होगा और इस पालिसी से अब कुछ डिविडेन्ड नहीं प्राप्त होने का। वैयक्तिक सत्याग्रह आन्दोलन ने इस बात को आँख में उँगलियाँ डाल कर दिखा दिया था कि सत्याग्रह का जमाना जाता रहा फिर भी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक रूप से वे अपने

सड़े हुए तरीके के आगे जाने में असमर्थ थे। उनका मिशन खतम हो चुका था। उन्हें यह समझ लेना चाहिये था कि ईश्वर उन्हें उस नई नीति, जन-क्रान्ति की नीति का वाहन नहीं बना सकता, पर वे अपने सबक को लेने से चूक गये। साथ ही परिस्थिति का तकाजा यह था कि तुरन्त ही कुछ किया जाय। कुछ करना टाला नहीं जा सकता था। गान्धी जी का हाथ जनता की नाड़ी पर था और उन्होंने अपने विरल नाड़ीज्ञान से इस बात को समझ लिया था।

अपने तरीके के दबाव-मूल्य में वृद्धि के लिये आग से खेल

दिमाग को ठंडा कर उन्होंने योजना बनाई। उन्होंने एक विशेष उद्देश्य को सामने रखकर सब बातें शुरु कीं। इस नये उद्देश्य को सामने रखकर सब कुतुबनुमों के काँटे ठीक किये गये। उन्होंने एक बीच का रास्ता अख्तियार किया। उन्होंने अपनी अहिंसावाली मालगाड़ी को क्रान्ति के इंजन में जोत दिया। मानसिक रूप से निरन्तर अहिंसा अर्थात् सत्याग्रह की दबावमूलक राजनीति में डटे रहने पर भी उन्होंने नवीन तथा अज्ञात की नाजबरदारी शुरू की, जिससे कि उनके तरीके का दबाव मूल्य बढ़े। यद्यपि वे इस बात पर कृतनिश्चय थे कि एक हद के आगे नहीं जाना है, फिर भी उन्होंने सरकार को यह निश्चय दिलाना शुरू किया कि अबकी बार वे क्रान्ति करके ही मानेंगे। मुझे यह निश्चय है कि यदि उन्हें मालूम होता कि इस प्रकार के रुख तथा आचरण का नतीजा यह होगा कि वे १६४२ की तरह ज्वालामुखी के गह्वर में गिर पड़ेंगे, तो वे अवश्य ही क्रान्ति की आग को लेकर खेल न खेलते।

गान्धी जी का खेल बना, पर नहीं बना

गान्धी जी परम कुशल राजनीतिज्ञ हैं, वे एक ऐसे कलाबाज नर हैं, जो चाहे जैसे भी गिरे पैरों पर खड़े दिखाई देंगे, पर ऐसा मुहूर्त आते हैं जब अच्छे से अच्छे राजनीति गच्चा खा जाते हैं और बड़े

बड़े मे नर औंधे मुँह गिर पड़ते हैं। गान्धी जी की योजना के अनुसार सरकार को पूरा भय हो गया कि अबकी बार मामला संगीन है। सरकार ने अपने भाड़े के टट्टुओं को रिपोर्टों से यह नतीजा निकाल लिया कि अब की बुड्ढे मियाँ कुछ गंभीर मामले करने पर उतारू हैं। वह डर गई और उसके होश-हवास जाते रहे जैसा कि गांधी जी चाहते थे। पर गांधी जी साथ ही यह चाहते थे कि घबड़ाकर सरकार उनसे समझौता करे, ऐसा करने के बजाय सरकार ने उनको तथा उनकी अनुगत कार्य-समिति को गिरफ्तार कर लिया।

खेल की तैयारी में मन्त्रगुप्ति आवश्यक थी

अब न तो जनता ही और न उदीयमान नेतागण ही यह जानते थे कि महात्मा जी का उद्देश्य केवल एक नये ढग का दबाव मात्र था। अवश्य ही महात्मा जी अपने इस राज को न तो जनता पर ही खोल सकते थे और न बीच के नेताओं पर, क्योंकि फिर तो सरकार को भी मालूम हो जाता। फिर दबाव ही क्या पड़ता? यदि जनता जान जाती, तो उसमें वह प्रचंड गंभीरता नहीं आ सकती थी, न उसके घूँसे वैसे तन सकते थे, न नथुने उस प्रकार फड़क सकते थे, न जबड़े उस प्रकार खिंच सकते थे, न आँखों पर वह खून चढ़ सकता था, न दाँत उस तरह कटकटा सकते थे, न स्नायु उस प्रकार उत्तेजित हो सकते थे, जिनके बगैर अभीष्ट असर पैदा नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त यदि कांग्रेस और जनता के साधारण लोग जान जाते तो सरकार पर सारी कलई खुल जाती, फिर तो इतने दिनों से तैयार हुआ, इतने सूक्ष्म प्रचारकार्यों से पुष्ट सारा खेल ही मिट्टी में मिल जाता।

असर पैदा करना गान्धी जी का उद्देश्य था

गांधी जी के दिमाग में दबाव राजनीति के अतिरिक्त कुछ भी

नहीं था और वे क्रान्ति के पास भी फटकने को तैयार नहीं थे, यह उनके असावधान मुहूर्तों के कई मन्तव्यों से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। मैंने पहले ही इस बात को उद्धृत कर दिखलाया है कि १९४२ की २६ जुलाई को उन्होंने यह कहा था कि यदि वे ब्रिटिश सरकार पर कोई असर (Impression) पैदा नहीं कर सके, तभी वे हद दर्जे तक जाने से नहीं चूकेंगे। इन शब्दों पर जरा ध्यान दीजिये कि असर पैदा करना उद्देश्य था। यह दबाव राजनीति की भाषा है न कि क्रान्ति की। क्रान्तिकारी अपने विरोधी पर असर पैदा करने की चेष्टा नहीं करता। वह तो अपनी विरोधी पद्धति को सिर से पैर तक विनष्ट करने के लिये संग्राम करता है।

आन्दोलन का उद्देश्य सरकार को बल दिखाना

यह कहा जा सकता है कि मैं एक मन्तव्य को लेकर तिल का ताल बना रहा हूँ। पर यह बात नहीं १४ अगस्त को अर्थात् अपनी गिरफ्तारी के पाँच रोज बाद गांधी जी ने वायसराय को लिखा " कांग्रेस आन्दोलन का उद्देश्य केवल लोगों में इतनी त्यागतत्परता उत्पन्न करना था जिससे बाध्य होकर सरकार ध्यान दे। इसका उद्देश्य केवल यह दिखाना था कि इसके पीछे जनता का कितना बल है। "

क्रान्तिकारी का उद्देश्य दूसरा होता है

तो गांधी जी का जो कुछ उद्देश्य था (गांधी जी सत्यवादी व्यक्ति हैं और उसकी बात को हमें सत्य मानना चाहिये) वह यह था कि सरकार ध्यान दे तथा यह साफ हो जाय कि उनके पीछे जनता का कितना बल है। एक क्रान्तिकारी न तो विरोधी सरकार का ध्यान आकृष्ट करता है और न उसे यह दिखाने की चेष्टा करता है कि उसके पीछे जनता का इतना बल है। वह तो सीधे-सीधे अत्याचारी शोषक पद्धति को लात मार कर अलग कर देता है और एक नये

समाज की सृष्टि का सूत्रपात करता है। रहा किसी को यह दिखाकर कुछ रियासतें प्राप्त करना कि उसके पीछे इतनी जनता है, एक क्रांतिकारी इसकी बात सोच भी नहीं सकता। क्रांतिकारी यह नहीं समझता कि किसी को भी करोड़ों आदमियों के भाग्यविधाता बनकर बैठने का हक है। क्रांतिकारी करोड़ों का एक बन कर करोड़ों के साथ राष्ट्र की बागडोर अपने हाथों में लेने के लिये यत्नशील होता है।

१९४२ सम्बन्धी गुस्सा और क्रोधवाला सिद्धान्त बेहूदा

इस प्रकार १९४२ की क्रांति सम्बन्धी गुस्सा और क्रोधवाला सिद्धांत बेहूदा और निकम्मा है, मुश्किल से यह एक अर्द्ध-सत्य है। अवश्य ही जनता अपने सम्मानित नेताओं की गिरफ्तारी से क्रुद्ध हुई थी, पर बात इतनी ही नहीं है। अधिक से अधिक यह केवल तात्कालिक कारण था, पर वास्तविक कारणों का तो अभी पता लग सकता है, जब गौण कारणों के नीचे गहराई तक जाया जाय। आर्थिक कारण तो थे ही। जनता की जो क्रमिक दुर्गति हो रही थी, जिसमें युद्ध के कारण और तेजी आई थी, उसने करोड़ों व्यक्तियों को जीवन के स्पन्द से उत्तेजित तथा सजग बना दिया था। पर केवल इसी से इस बात की व्यवस्था नहीं की जा सकती कि क्रांतिकारी उथल-पुथल क्यों मच गई। इसी से यह बात साफ नहीं होती कि प्राचीन गांधीवादी तरीके से जनता आन्दोलित न होकर इस बार क्रान्तिकारी तरीके से क्यों उठ पड़ी। इसका कारण यह था कि उन्हें अब इस तरीके पर विश्वास नहीं था।

गांधीवादी तरीकों में अविश्वास सार्वजनिक

गत २२ वर्षों में गांधीवादी तरीकों को मौका दिया गया था, और वैयक्तिक सत्याग्रह आन्दोलन ने यह प्रदर्शित कर दिया कि यह तरीका अपनी उपयोगिता की सम्भावनाओं से आगे जा चुका था। मैं यह नहीं कहता कि नीचे तक सारी जनता गांधीवादी दबाव राज-

नीति के तरीके में आस्था खो चुकी थी, पर मैं यह अवश्य कहता हूँ कि आन्दोलनों के असली आदमी याने निम्न कांग्रेस नेता इस तरीके पर विश्वास खो चुके थे। अवश्य यह कहना कठिन है कि इनकी यह विश्वासहीनता सज्ञान थी। नहीं यह सज्ञान नहीं थी। यदि ऐसा ही होता तो भारतवर्ष में क्रान्ति हो चुकी होती। ये लोग केवल एक अस्पष्ट तरीके से यह समझ रहे थे कि पुराना अस्त्र बेकार और कुन्द हो चुका है। ऊपर से कानाफूसी में जो बातें महात्मा जी के इर्दगिर्द से आ रही थीं उससे इनका यह अविश्वास जोर पकड़ गया था। हम यह तो पहले ही बता चुके हैं कि गांधी जी के इर्दगिर्द के लोग तक सन्देह के शिकार हो चुके थे।

परिस्थितियों के षड़यंत्र ने क्रान्ति कराई

इन परिस्थितियों में अगस्त प्रस्ताव पास हुआ और एक आतंक-ग्रस्त, ह्रासशील, मुमूर्षु, सिसकते हुये साम्राज्यवाद ने नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। क्रान्ति की पिस्तौल का घोड़ा जिसे सरकार के सिर पर खींचते-खींचते सब तरह के प्रचारकार्य मे इतना पीछे तक खींचा गया था कि आगे नहीं खींचा जा सकता था। जब तक यह घोड़ा गांधी के हाथों में था, तब तक खिलौने की पिस्तौल के घोड़े की तरह यह निरापद था। सचमुच अहिंसा गांधी जी के नथुनों का प्राण-वायु था। वे अपने शत्रु के हृदय को परिवर्तित करने के लिये उसके सिर पर क्रान्ति की पिस्तौल, खिलौने वाली नहीं सचमुच पिस्तौल पकड़े हुये थे। उन्होंने इसका घोड़ा भी खींच रक्खा था, पर उनका यह इरादा कदापि नहीं था कि इस खींचे हुये घोड़े को किसी भी हालत में छोड़ा जाय। नहीं कभी नहीं। जाल बहुत बढ़िया तरीके से डाला गया था, इतना बढ़िया तरीके से कि सरकार समझ ही नहीं पाई कि मामला कहाँ तक क्या है। नतीजा यह हुआ कि सरकार ने उसी व्यक्ति को गिरफ्तार कर लिया जिसके हाथों में भारतीय बारूदखाने

से बनी पिस्तौल का घोड़ा था। इसका वही फल हुआ जो हो सकता था, हाथ खींच लिये जाने पर घोड़ा धमाके से गिर पड़ा फिर तो वज्र विस्फोट होकर रहा। यों ही सरदार पटेल ने १९४६ की जनवरी के एक व्याख्यान में यही कहा था कि गांधी जी क्रान्ति के विरुद्ध एक (Bulwark) या दीवार हैं। पर परिस्थितियों के अजीब षड्यंत्र ने क्रान्ति के विरुद्ध इस दीवार को सरकार ने गिरफ्तार कर कार्यक्षेत्र से उठा लिया। स्मरण रहे कि सरकार भी क्रान्ति नहीं चाहती थी। पर उसी के इस कार्य का परिणाम यह हुआ कि एक भयंकर पर अप्रस्तुत क्रान्ति हुई।

इस प्रकार इतिहास की शक्तियाँ गाँधी जी और सरकार की इच्छा के विरुद्ध काम कर गईं। गांधी जी इस क्रान्ति को नहीं चाहते थे, जिसने एक ही घड़ी में उनकी वर्षों की इकट्ठी अहिंसा की पूँजी को उड़ा दिया। सरकार भी क्रान्ति नहीं चाहती थी, पर क्रान्ति को रोकने की दानवीय शक्ति को जल्दी में इसने गांधी जी के हाथ को जबर्दस्ती घोड़े पर से खींच लिया, नतीजा यह हुआ कि क्रान्ति हुई।

इतिहास कई बार नेताओं तथा सरकारों को उल्लू बनाकर नचा देता है यह मौका ऐसा ही था जब इतिहास ने ऐसा ही किया था। न तो गांधी जी इस क्रान्ति को चाहते थे, न सरकार, पर इतिहास के के व्यंग के कारण—कोई रहस्यपूर्ण बात नहीं जैसा कि हम देख चुके हैं, गान्धी जी और सरकार ने मानो षड्यंत्र कर इस क्रान्ति को जन्म दिया।

इस अवसर पर मेरा यह उद्देश्य नहीं है कि इस क्रान्ति के ब्यौरे में जाऊँ। दूसरे लोग इसका इतिहास लिख रहे होंगे, सम्भव है मैं भी बाद को लिखूँ जैसे मैंने क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास लिखा है, पर इस अवसर पर मेरा उद्देश्य केवल १९४२ की क्रान्ति को उसके सही परिप्रेक्षित में दिखाना है।

शताब्दियों की आग भड़क उठी

१६४२ के ६ अगस्त की गिरफ्तारियों से जनता के ऊपर जो रोक-थाम वाले प्रभाव थे, उनके हटते ही उसने क्रान्तिकारी जोश तथा शौर्य की पराकाष्ठा का परिचय दिया। जन-कर्मशक्ति की आग के ऐसे सोते जो लोकचक्षु के अन्तराल में शायद कुछ अलख जगाने वाले क्रान्तिकारियों के द्वारा सेवित होकर सुलग रहे थे. एकाएक दिग्दिगन्त व्यापी ज्वाला में भड़क उठे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिये एक विराट चिता के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। जो आँधी शायद पर्दे के पीछे एकत्र होकर शक्ति संचय कर रही थी, वह एकदम हहरा कर दौड़ पड़ी। भारतीय इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ था। मेदिनीपुर, बलिया, सतारा इस क्रान्ति के इतिहास की क्रोशगाथायें हैं। हाँ १६४२ की तुलना में १८५७ की क्रान्ति भी कम मात्रा में जनक्रान्ति थी। युगों से दबी हुई, सताई हुई, पिटी हुई, अपमानित, भूखी, नङ्गी, मरी हुई इस जनता की हड्डियों में इतना प्राण जाने कहाँ छिपा हुआ था। जब हम मेदिनीपुर, बलिया, सतारा के गौरवमय इतिहास को पढ़ते हैं तो यह आश्चर्य होता है कि इन सूखे कंकालों में इतनी आग कहाँ से आई। इन दिनों में हमारा देश उत्पीड़न के सारे सप्तकों से होकर गुजरा। शान्ति पूर्ण जुलूसों पर गोली चलाई गई और मशीनगन चलाया गया, गोलियों से लोगों के शरीरों को भून कर रख दिया गया, गाँवों पर हवाई जहाज से बम डाले गये, हमारी माताओं और बहनों पर बलात्कार किया गया।

१९४२ गान्धीवादी या आतंकवादी धारा से उदात्ततर

१६४२ में भारतीय राजनीति के सभी हिस्सों ने विशेष कर क्रान्तिकारी हिस्सों तथा गान्धीवादी हिस्सों ने अपना पत्रपुष्पफल-तोय अर्पण किया। यह क्रान्तिकारी हिस्सा १६०५ बल्कि उसके

बहुत पहले से अपने तरीके से भारत के उद्धार के भगीरथ प्रयत्न में संलग्न था। यह कहना कि १९४२ का आन्दोलन दोनों धाराओं का सुन्दर सम्मिश्रण था, सुन्दर शब्दों में बह जाना है। नहीं यह धाराओं से भिन्न तीसरा ही कुछ था, जो इन दोनों से उद्भूत होने पर भी गुणगत रूप से दोनों से भिन्न था।

तीसरा अध्याय
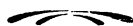
प्रतिक्रान्ति का प्रारम्भ

मैं पहले ही यह दिखा चुका हूँ कि इस क्रान्ति में गान्धी जी का क्या भाग—अवश्य अनुत्सुक भाग क्या था। क्या गान्धीवादी एक अन्यमनस्क मुहूर्त में १९४२ की क्रान्ति का पिता बन गया था? नहीं, इतिहास ने गान्धीवादी धारा को उसकी घोषित इच्छा के विरुद्ध इस आन्दोलन की माता होने के लिये मजबूर किया था।

यदि गान्धी जी की सामर्थ्यमें होती तो क्रान्ति को रोक देते

यदि गान्धी जी के हाथों में हथकड़ियां न पड़ गईं होतीं, तो वे खुशी से उसके जन्मदिवस में ही इस शिशु को मौत का घाट उतार देते क्योंकि उनके मन में शिशुत्व की जो धारणा थी यह उसके इतना प्रतिकूल था, उनकी दृष्टि में यह इतना घृणित था कि इसके मरने में ही उन्हें अधिक खुशी होती। पर सरकार ने उनको जेलों की चहार दीवारी में कैद कर रक्खा था, उनको जबान बन्द कर दी गई थी। इस क्रांति की अग्रगति से गान्धी जी को कितना मर्मभेदी दुःख हुआ, वे किस प्रकार तड़प तड़प कर रह गये, निराशा,

विक्षोभ, मर्मव्यथा में वे किस प्रकार विकल हो रहे थे, यह आगा खाँ प्रासाद से लिखे हुए उनके पत्रों से ज्ञात होता है। वे खुशी से नजर-बन्दी के स्थान को छोड़ कर जनता जहाँ इतिहास निर्माण कर रही थी, वहाँ जाते, पर उसे उत्तेजित कर उस मार्ग में आगे बढ़ाने के लिये नहीं बल्कि उसे रोकने के लिये। पर साम्राज्यवाद की एक ह्रासशील पद्धति ने जो क्रोध से अन्धी और बहरी हो चुकी थी (क्रोध भी एक ऐतिहासिक शक्ति के रूप में काम कर सकता है) उनकी सदाकत भरी प्रार्थनाओं को अनसुनी कर दिया। उसने सोचा यह सब छूटने के बहाने हैं और उनको जेल में बन्द रक्खा।

मेरा यह कथन कि गांधी जी यदि बाहर होते तो वे हिंसात्मक क्रांति का विरोध करते (मैंने यह तो पहले ही प्रमाणित कर दिया है १९४२ की क्रांति का सारभाग शक्ति पर कब्जा, जिस किसी प्रकार से यहाँ तक कि हिंसात्मक संग्राम से शक्ति पर कब्जा था) कोई अलस अटकल मात्र नहीं है, बल्कि सत्य है इसके सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं। इसका सब से बड़ा प्रमाण तो यह है कि वे इमानदारी से अहिंसा में अर्थात् दबाव राजनीति में विश्वास करते हैं और कुछ भी हो जाता चाहे चन्द्र टरता, चाहे सूरज टरता, वे इससे रत्ती भर भी डिगते नहीं। उन्होंने आगा खाँ प्रासाद से वायसराय को जो पत्र लिखे उन्होंने बराबर क्रान्ति के सब प्रधान कार्यों की बिना किसी हिचकिचाहट के निन्दा की।

यदि नेता गिरफ्तार न होते तो क्रान्ति न होती

अवश्य उन्होंने तथा उनकी कार्यसमिति ने जो कुछ भी 'हिंसात्मक कार्य' हो रहे थे, उनकी सारी जिम्मेदारी उस सरकार पर डाली थी जिसने नेताओं को गिरफ्तार किया था। इस प्रकार गान्धी जी ने तथा उनकी कार्यसमिति ने सरकार पर सारे दोष महज एक आलंकारिक ढङ्ग से नहीं मढ़े, या इसलिये नहीं मढ़े कि राष्ट्रवादी

भारतवर्ष ने यह सूत्र बना रक्खा है कि ब्रिटिश सरकार जब करेगी तो खराब ही करेगी। बल्कि यही वास्तविक तथ्य था। सचमुच अगर नेता गिरफ्तार न होते तो १९४२ की क्रान्ति न हो पाती। अधिक से अधिक १९३० या ९३२ की एक पैमाने पर पुनरावृत्ति भर होती।

शंकरराव ऐसों के क्रोध का कारण

इस प्रकार १९४२ की क्रान्ति की उत्पत्ति सम्बन्धी गुस्सा और क्रोध का सिद्धान्त एक ऐसी नेताशाही की मनगढ़न्त बात नहीं थी जो ऐसा मार्ग ग्रहण करना चाहती हो जिसमें खतरा न हो, बल्कि इन नेताओं की जान में यह पूर्ण तथ्य भी था। सचमुच यदि ये नेतागण—बड़े नेताओं में से एक भी बाहर होते, तो इतिहास आसानी से नये मार्ग को काट कर उस पर चल न पाता। इसका कारण वामपक्षियों तथा समाजवादियों पर शंकरराव देव ऐसे लोगों का मात्राहीन क्रोध समझ में आता है क्योंकि इन लोगों ने स्वीकृत नेताओं की अनुपस्थिति का फायदा उठाकर आन्दोलन को निर्दिष्ट गान्धीवादी दबावमूलक राजनीति की पटरी से हटाकर क्रांति की पटरी में डाल दिया। अच्युत और अरुणा ऐसे लोगों को इस लिये धन्यवाद देने के बजाय कि वे काँग्रेस के गाढ़े वक्त में काम आये, अमावस्या के अन्धकार में प्राणों का दीपक जलाते रहे, तथा इसके लिये उन्हें राष्ट्रपतित्व प्रदान कर पुरस्कृत करने के बजाय (काँग्रेस के पास यही तो एक पुरस्कार का तरीका है) शंकरराव ऐसे लोग अपने बुढ़भस तथा अकारण आत्मश्लाघा के कारण इन लोगों की निन्दा करने चल दिये।

कांग्रेस समाजवादी कांग्रेस से बाहर जाय ?

१९४६ की पाँच जनवरी को पोशाक में भी गान्धी जी का अनुकरण करने वाले श्रीशंकरराव देव ने कहा था, " अगस्त संग्राम के अवसर पर काँग्रेस समाजवादियों ने जिस नीति का अवलबन किया

था, वह कांग्रेस द्वारा स्वीकृति अहिंसा की नीति के साथ खप नहीं सकती। कार्य समिति का कलकत्ते वाला प्रस्ताव मेरे वक्तव्य को प्रामाणित करता है। समाजवादीगण अपनी नीति का प्रयोग कांग्रेस से बाहर ही कर सकते हैं। वे कांग्रेस में रह कर अपनी नीति का अनुसरण नहीं कर सकते हैं क्योंकि उनकी नीति कांग्रेस की अहिंसा नीति के विरुद्ध है।''

कांग्रेस एकतरफा अहिंसा का प्रयोगक्षेत्र

श्री देव का इस प्रकार से समाजवादियों पर बिगड़ना समझ में आता। है ऐसे महानुभावों के अनुसार कांग्रेस एकतरफा सत्य तथा अहिंसा के प्रयोग का वाहन है। इसलिये जब कुछ व्यक्ति इसे साम्राज्यवाद के खूनी पंजों से किसी भी साधन से छुटकारा पाने का एक वाहन बनाने का प्रयत्न करते हैं और ऐसा उस समय करते हैं जब कांग्रेस के स्वीकृत नेता जेल के बाहर हैं तो यह श्री देव ऐसे लोगों के निकट एक अक्षम्य अपराध हो जाता है। इसलिये यह ठीक ही है कि श्री देव तथा उनकी किस्म के लोग कांग्रेस को ऐसे भयकर उपादानों से शुद्ध कर उसे अपना पाकिस्तान बनाना चाहते हैं जिससे आगे १९४२ की पुनरावृत्ति न हो सके।

गुड़ खायँ और गुलगुला का परहेज ?

पर ये ही लोग हैं जो १९४२ की तारीफ के पुल बाँधने में होड़ा-होड़ी कर रहे हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? क्या यह ऐसा तथ्य नहीं है जिससे अब तक जो कुछ मैंने दर्शाया है उस पर पानी फिर जाता है? नहीं, इसके विपरीत इस से जो कुछ कहा गया उसकी पुष्टि होती है। सौभाग्य से १९४२ पर हमारे महामान्य नेताओं के असली मत क्या थे यह नजरबन्दी के स्थानों से वायसराय को लिखे हुए उनके पत्रों से मालूम है। इन पत्रों में इस क्रान्ति की अत्यन्त कटु और तीव्र आलोचना की गई है। यह कहना कि

इन पत्रों में इस क्रान्ति की हिंसा की आलोचना की गई है बहुत कमजोर सफाई पेश करना है क्योंकि १६४२ इसके सिवा कुछ नही है कि इस में सम्पूर्ण रूप से गान्धीवादी दबावमूलक राजनीति को पीछे रखकर आगे बढ़ गया। निश्चय ही यह एक बलप्रयोगमूलक क्रान्ति थी।

गान्धी जी द्वारा १९४२ के सारभाग की निन्दा

नेताओं ने जेल में रहते समय १६४२ को खूब जी भरकर कोसा, पर छूटते ही उन्होंने इसकी तारीफ के पुल बाँधने शुरू कर दिये। इस मामले में गान्धी जी अपवाद हैं जिन्होंने बराबर क्रान्ति के हिंसात्मक अंशकी निन्दा की। अपनी रिहाई के कोई दो महीने बाद पंचगनी मे १६४४ की २२ जुलाई को एक वक्तव्य देते हुए महात्माजी ने कहा था "मुझ मे लोग सब मे ज्यादा इस बात पर बातचीत करते हैं कि मैं गुप्त कार्यक्रम का समर्थन करता हूँ या नहीं। इनमें तोड़फोड़ तथा गैरकानूनी साहित्य का प्रकाशन भी है। मुझे यह बताया गया कि कुछ कार्यकर्ताओं के फरार हुए वगैर कुछ किया ही नहीं जा सकता था। कुछ लोगो ने यह भी सुझाव दिया है कि सम्पत्ति से विनाश को जिसमें यातायात तथा समाचार आदान-प्रदान के साधनों का विनाश भी है बशर्ते कि ऐसा करने से किसी का खून न हो, अहिंसा में समझा जाना चाहिये। यह भी मुझे बताया गया है कि दूसरी जातियों ने ऐसा बल्कि इससे कहीं ज्यादा किया है। मेरा यह कहना है कि जहाँ तक मुझे मालूम है किसी भी जाति ने सज्ञान रूप से स्वाधीनता प्राप्ति के साधन के रूप में सत्य और अहिंसा का उपयोग नहीं किया है। उस मानदंड से नाप कर मैं बिना किसी हिचकिचाहट के यह कहता हूँ कि अहिंसा में ऐसे कार्यों का स्थान नहीं होना चाहिये। तोड़फोड़ और सम्पत्ति का विनाश स्वयं हिंसा हैं। यद्यपि यह दिखलाया जा सकता है कि इन कार्यों से कुछ जनता

की दिलचस्पी बढ़ गई थी तथा उनको जोश आ गया था, पर मुझे इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे कार्यों से आन्दोलन को सब मिलाकर नुकसान ही हुआ।"

तो १६४२ के प्रति गान्धी जी के मत का यही सार है। गुप्त कार्य तथा जिसे गान्धी जी हिंसा कहते हैं उसको बढ़ाकर १६४२ की प्रशंसा करना महज हवा में बातें करना है।

१९४२ पर कार्यसमिति के सदस्य

कार्यसमिति के सदस्यो ने १६४३ की १३ फरवरी को वायसराय को जो पत्र लिखा था, उससे यह ज्ञात हो जाता है वे महानुभाव इस सम्बन्ध में गान्धी जी से कुछ पीछे नहीं थे। महामान्य नेताओं ने और बातों के साथ इस पत्र में यह लिखा था:—

"आपका यह कहना है कि इस समय एक गुप्त संस्था काम कर रही है और कांग्रेस कार्यसमिति के एक सदस्य की स्त्री इसकी सदस्या है। हम इस संस्था के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते और न हम ऐसी स्थिति में ही हैं कि इसका पता लगावें कि इस सम्बन्ध में सत्यासत्य क्या है। पर हमारा यह सुनिश्चित मत है कि कोई भी कांग्रेस संस्था या कोई भी जिम्मेदार कांग्रेसी बम या आतंकवादी कार्यों की तैयारी में लिप्त नहीं हो सकता या नहीं हो सकती है। हाँ, कांग्रेस वाले कुछ परिस्थितियों में अहिंस प्रतिरोध (Civil resistance) अवश्य करते हैं। पर आपने जो अभियोग लगाये हैं उनके साथ इसका कोई सामंजस्य नहीं है। यह सम्भव है कि औसत दर्जे के सरकारी कर्मचारी के लिये यह तमीज करना सम्भव नहीं है कि बम से आक्रमण तथा सत्याग्रह में कोई फरक भी है या नहीं, पर हमें इसमें कोई सन्देह नहीं और हम अपने लोगों को अच्छी तरह जानते हैं कि जिम्मेदार कांग्रेसी किसी भी प्रकार बमबाजी तथा आतंकवादी कार्यों को प्रोत्साहित नहीं कर सकते।"

निन्दा फिर भी प्रशंसा

पर ये ही लोग हैं जो छूटने पर राजनारायण मिश्र, महेन्द्र चौधरी जगलाल चौधरी इत्यादि की प्रशसा में शतमुख हो गये। मैं बाद को इस विषय पर आऊँगा कि ये लोग जो कि सत्याग्रह और अहिंसा के कट्टर भक्त हैं क्यों इन वीरों की जिनके बगैर १६४२, १६४२ न होता प्रशंसा कार्य के लिये दौड़ पड़े। इनकी प्रशंसा कोई मामूली प्रशंसा नहीं थी, इनकी प्रशंसा की मात्रा इतनी थी कि देखकर सन्देह होता था कि जैसे वे किन्हीं लोगों से होड़ कर रहे थे कि कहीं इस मामले में पिछड़ न जायँ। पर इस प्रश्न में पड़ने के पहले इस बात को और अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया जाय कि कार्यसमिति के सदस्यों ने भी गान्धी जी की तरह १६४२ की कटु और तीव्र आलोचना की।

आन्दोलन गान्धी जी ने नहीं चलाया

इस सम्बन्ध में भारतीय कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू ने जो कुछ कहा था वह बहुत ही मार्के की है। उन्होंने १६४४ की ५ जनवरी का कलकत्ता में बोलते हुये कहा था, "यह महात्मा जी पर छोड़ दिया गया था कि वे जब जरूरी समझते आन्दोलन चलाते। इस प्रकार उन्हें आन्दोलन चलाने का अधिकार समर्पित किया गया था। यही उस लम्बे प्रस्ताव की असली बात थी। इस प्रस्ताव के क्रियात्मक हिस्से में यह नहीं कहा गया था कि आन्दोलन चलाया जाय बल्कि यह कहा गया था कि यदि महात्मा जी उचित समझें तो आन्दोलन शुरू करें। उन्हें ही यह अधिकार दिया गया था, इसका मतलब यह था कि हम आजादी चाहते हैं और शान्तिपूर्ण उपायों से और सम्भव हो तो सरकार से बातचीत से उसे हासिल करना चाहते हैं। एक महान सेनापति अपने लोगों को तब तक बलिवेदी पर नहीं चढ़ाता जब तक ऐसा करना बहुत ही जरूरी न हो जाय

और महात्मा जी एक बहुत बड़े सेनापति है, वे नहीं चाहते कि जब तक बहुत जरूरी न हो एक भी सैनिक को बलिवेदी पर चढ़ाया जाय।"

"महात्मा गांधी ने तो आन्दोलन चालाया ही नहीं। वे तो जेल ले जाये गये। उनके जेल चले जाने के बाद जनता ने जिसम कांग्रेसी गैरकांग्रेसी और कांग्रेस विरोधी सभी थे ऐसे आन्दोलन की सृष्टि की जिसके सम्बन्ध में मुझे कुछ ज्ञान नहीं था। मुझे व्यक्तिगत रूप से पता ही नहीं था कि क्या हो रहा है। मैं इस बात को साफ कर देना चाहती हूँ क्योंकि बंगाल में इस सम्बन्ध में बहुत गलतफहमी है।"

"आप यह कहते जाते हैं कि यह कांग्रेस का आन्दोलन था। पर कांग्रेस ने तो कोई आन्दोलन शुरू ही नहीं किया। आन्दोलन इस लिये शुरू हुआ कि जनता को क्रोध आ गया। आन्दोलन ने कई (तथा आकार धारण किये। महात्मा गान्धी के नाम पर बहुत कुछ किया गया जो नहीं किया जाना चाहिये था, लोगों को यह तो कम से कम ख्याल रखना चाहिये था कि बीस साल से बुड्ढा क्या कहता रहा है। मैं यह नहीं कहती कि किसी ने कुछ किया ही नहीं। लोगों ने आवेश में, जोश में आकर बहुत कुछ किया जिससे अहिंसा की प्रतिज्ञा टूट गई। मैं कार्यसमिति की सदस्या हूँ और मुझे यह मालूम है कि राष्ट्रपति मौलाना अबुलकलाम आजाद ने वायसराय को पत्र लिखते हुये यह साफ कर दिया था कि कांग्रेस ऐसे किसी भी कार्य का समर्थन नहीं करती जिससे अहिंसा की प्रतिज्ञा का भंग होता है।"

छोटे मियांगण भी सुभानअल्लाह

यह तो बड़ों की बात हुई। और भ ी देखिये कि कुछ अन्य छोटे कांग्रेसजनों ने ४६.४२ को किस प्रकार जल्दी से अस्वीकार कर दिया। एक खबर यों है :—

"पटना, जुलाई ३१, १६४४—महात्मा गान्धी ने तोड़फोड़ तथा

अन्य निषिद्ध कार्यों की निन्दा करते हुये जो वक्तव्य दिया, उसके फलस्वरूप बिहार की वह सत्याग्रह कौंसिल जो १९४२ के उपद्रव के समय बनी थी भंग कर दी गई।

पुर्निया की एक रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि कांग्रेस कार्यकर्ता इस आशय के पर्चे बांट रहे हैं कि न तो महात्मा गान्धी ने और न कांग्रेस ने किसी को इस बात का अधिकार दिया कि वे तोड़फोड़ या हिंसात्मक कार्य करें। पर्चों में लिखा है, 'जो ऐसा कार्य कर रहे हैं उनको जनता कांग्रेसी न समझे।' इसी प्रकार की कार्रवाइयाँ मुँगेर तथा कुछ दूसरे स्थानों में भी की जा रही है।"

कहां तक अहिंसा और कहां तक भय ?

अब रहा यह कि इस प्रकार लोग जो एकाएक तोड़फोड़ आदि की निन्दा करने के लिये चल पड़े यह कहाँ तक अहिंसा में विश्वास के कारण था और कहाँ तक पुलिस के भय के कारण था यह विचारणीय है।

शिमला कान्फरेन्स तक १९४२ की बुरी गत

इस प्रकार बहुत दिनों तक १९४२ के संग्राम की हालत अजीब थी। इसकी हालत ऐसे बच्चे की तरह थी जिसके बाप होने की बात से सभी इनकार कर रहे थे। प्रत्येक संभव बाप इतरा कर भाग जाता था। यही परिस्थिति करीब-करीब शिमला कान्फरेन्स की नाकामयाबी तक चलती रही। इसी के बाद एकाएक नेताओं का पारा चढ़ गया और १९४२ की तारीफ के पुल बाँधे जाने लगे। अवश्य फिर भी इस युग के गुप्त कार्यों को बढ़ाकर यह तारीफ की गई।

लेनिन और १९०५

इस सम्बन्ध में यह देखना दिलचस्प होगा कि सर्वकाल के महत्तम क्रांतिकारी लेनिन ने १९०५ की असफल क्रांति के बाद क्या रूख लिया था। क्या उन्होंने १९०५ की निन्दा की थी तथा उससे

अपनी जान छुड़ानी चाही थी? नहीं! 'प्लैखनौफ' के इस कहने पर कि 'उन्हें हथियार उठाना ही नहीं चाहिये था' लेनिन ने कहा, इसके विपरीत उन्हें और भी जोरदार तथा आक्रमणात्मक तरीके से हथियार उठाना चाहिये था। हमें जनता को यह अच्छी तरह समझा देना चाहिये था कि शान्तिपूर्ण हड़तालों तक ही सीमित रहने से काम नहीं बनने का।' १९०५ की क्रांति की असफलता के बाद दलतोड़कों (Liquidators) ने कहा कि गुप्त पार्टी तोड़ दी जाय, पर लेनिन ने कहा कि इसके विपरीत हमें पार्टी के गुप्त हिस्से को और तगड़ा बनाना चाहिये।*

जेल से गालियां और छूटते ही तारीफ के पुल

तो यह लेनिन थे और ये हमारे नेता थे जिनमें से कुछ कम स कम अपने में अपने को लेनिन के सगे समझते हैं। हमारे इन नेताओं के नेतृत्व की सब से बड़ी ट्रेजेडी यह है कि जब तक ये जेल में रहे १९४२ को पानी पी पीकर और सो भी वायसराय को लिखित पत्रों में कोसते रहे और छूटते ही जब उन्होंने देखा कि १९४२ तो जनता के सम्मान की वस्तु हो चुकी है और इस पर सामने से हमला करना महज अपने ऊपर आफत बुलाना होगा तो इन्होंने उसकी तारीफ शुरू कर दी। अवश्य प्रशंसा करते हुए भी इन्होंने इस क्रांति की आत्मा को कोसा। इस प्रकार प्रशंसा से उन्होंने चाहा कि इसे नपुंसक बना दिया जाय और इसे उस सारभाग से वंचित कर दिया जाय जिसके कारण ही यह दबावमूलक राजनीति के युग से अलग था।

दोमुंही प्रशंसा की नीति

इन प्रशंसाओं की विशेषता यह थी कि शहीदों की तो तारीफ

---

* बालशेविक पार्टी का इतिहास

कर उनका एक हाथ से नमस्कार किया जाता था, पर दूसरे हाथ से उनके कृत्यों के गलों को घोंट दिया जाता था। इस प्रकार से शहीदों की दोमुँही प्रशंसा गाँधीवादी नेताओं का एक पुराना हथकंडा था। इन लोगों ने इसी दोमुँही तरीके मे चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिह, काकोरी के शहीद, यतीन्द्रदास की—हम केवल दो चार का नाम ले रहे हैं प्रशंसा की थी। इन लोगों की यह प्रशंसा केवल एक पेंचदार चालाकी थी जिससे इन शहीदों को उनके वास्तविक श्रेय से वंचित कर उन्हें अपनी दबाव मूलक राजनीति की गाड़ी में जोत देने की चेष्टा की जाती थी। इन नेताओं ने इसी उद्देश्य को सामने रख कर बार-बार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सामने आतंकवाद का हौआ खड़ा किया था जिससे सरकार पर दबाव पड़े और बात-चीत तथा समझौता हो।

पर अबकी बार यह नीति असफल

पर इस बार यह दोमुँही प्रशंसा अपना उद्देश्य सिद्ध करने में असमर्थ रही। सर्दार भगतसिंह आदि १६४२ पूर्व शहीदों की बात और थी। वे कांग्रेस के बिलकुल बाहर के थे। जनता की भावनाओं के प्रति रियायत कर उनकी प्रशंसा की जाती थी, पर इस शाब्दिक प्रशंसा के बाहर उनका परित्याग किया जा सकता था, उनकी निन्दा की जा सकती थी, उनका तिरस्कार किया जा सकता था। पर इन १६४२ के शहीदों में से प्रत्येक का काँग्रेस के साथ एक आवयविक सम्बन्ध था। जो कुछ भी उन्होंने किया था 'भारत छोड़ो' के काँग्रेसी उद्देश्य को सामने रख कर किया था। उन्होंने हिदायत के अनुसार, श्री मशरूवाला की तरह व्यक्ति की हिदायत (हरिजन, १६ अगस्त १६४२) के अनुसार जिसमें यह कहा गया था कि लोग इस प्रकार काम करें कि मानों उनके लिए सरकार रह नहीं गई तथा जो उनके पास अफसर बन कर आते हैं वे अनधिकार प्रवेशकारी तथा आक्र

मणकारी है, काम किया था और उसी के कारण फाँसी पाई थी।

दोमुंही प्रशंसा का परिणाम

इस बार इनकी दोमुंही प्रशंसा की नीति सम्पूर्ण रूप से असफल रही। इससे कोई भी बेवकूफ नहीं बनाया जा सका। कोई भी व्यक्ति जो १९४२ से उसके शहीदों तथा गुप्त कार्रवाइयों को निकाल कर उसकी प्रशंसा करना चाहेगा, उसकी बात का कोई असर नहीं हो सकता। अगस्त के पहले गाँधी जी तथा उनके चेलों ने अपने हथियार के दबाव मूल्य को इस प्रकार की कानाफूसी-प्रचार से बढ़ाना चाहा था, जो उनके कथित मत तथा पथ के साथ सम्पूर्ण रूप से सामंजस्यहीन था। इस प्रकार वे अनजान में अपनी जड़ भी खोद रहे थे। वे इस बार अपना उद्देश्य सिद्ध करने में असमर्थ रहे। उनकी योजनायें विफल हुईं। जिस आन्दोलन के सम्बन्ध में यह योजना थी कि किसी न किसी रूप में वह १९३० या १९३२ की पुनरावृत्ति हो, वह एक वास्तविक क्रांति के रूप में आ गया। पर ये लोग इससे कुछ न सीखे। फिर उन्होंने अपनी वही कूटनैतिक प्रशंसा शुरू की कि शहीदों की तो प्रशंसा की जाय पर उनके क्रांतिकारी तरीकों की भद्द पीटी जाय। पर ये बेचारे केवल अपनी दबावमूलक राजनीति की जड़ काट रहे थे।

वैकल्पिक नेतृत्व के उदय में बाधा

हाँ वे इस संदिग्ध नीति से एक बात हासिल कर रहे थे, वह यह कि इस प्रकार हर बहाने से आगे बने रह कर वैकल्पिक नेतृत्व (Alternative leadership) के विकास के मार्ग में बाधक हो रहे थे, जिसके बगैर क्रांतिकारी विचार सफलतापूर्वक काम में नहीं लाये जा सकते हैं और न वे ढङ्ग से पल्लवित पुष्पित हो सकते हैं।

आजाद हिन्द फौज की प्रशंसा

इस सम्बन्ध में स्वाभाविक रूप से आई० एन० ए० के वीरों

की बात याद आती है। कांग्रेस के नेताओं ने अपनी पुरानी नीति का अनुसरण कर इन त्यागी वीरों की खूब प्रशंसा की और उन्हें इस प्रकार दबाव राजनीति के अर्थ में कांग्रेस के वीर बना देना चाहा यद्यपि इन्हीं लोगों ने इनके नेता सुभाष बाबू को राजनीति से खदेड़ दिया था। नेताओं ने देखा कि इनके वीर कृत्यों के कारण जनता इन पर जान देता है, इस लिये इस विषय में अब तक इन्होंने जो कुछ कहा था उसे बालाए ताक रख कर ये लोग इनकी तारीफ पर जुट पड़े। पंडित नेहरू इस मामले में सब से बाजी मार ले गये।

सुभाष बाबू की मुक्ति सेना पर गांधी जी का मत

इस प्रशंसा के क्या नतीजे हुए इसकी जाँच करने के पहले हम यह देखें कि स्वयं महात्मा जी श्री सुभाष बोस द्वारा संगठित मुक्ति सेना पर क्या कहा था।

१६४२ की १६ जुलाई के 'हरिजन' में जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी उसके अनुसार गाँधी जी ने प्रश्नों के उत्तर में कहा था "सुभाष बाबू की करनी से (Subhas Babu's performance) भारतवर्ष तवा से चूल्हे में चला जायगा क्योंकि जर्मनी को इसकी कोई बाध्यता तो है नहीं कि भारत को गुलामी से छुड़ावे।"

श्री नेहरू जी के मत

१६४२ की १५ जुलाई को होम डिपार्टमेन्ट के ऐडिशनल मंत्री को लिखते हुए गाँधी जी ने अपनी सफाई देते हुए 'हरिजन' के इन्हीं वाक्यों का हवाला दिया था। ऐसा उद्धरण देने में उनका मतलब यह था कि यह दिखाया जाय कि अपने देश को तवा से चूल्हे में डालने के कार्य में लिप्त श्री बोस की कार्यावलियों से उनका कोई सहयोग नहीं है। रहा पंडित नेहरू का, सो इस सम्बन्ध में इतना ही कहना यथेष्ट है कि श्री बोस की इन कार्रवाइयों के सम्बन्ध में उनका मत श्री बोस के लिये सब से कम प्रशंसात्मक थे। अहमद

नगर किले से रिहा होने के बाद भी श्री नेहरू ने यह कहा था कि यदि श्री बोस अपनी सेना के साथ भारत में आये, तो वे उनसे जंग करेंगे।

शाहनवाज आदि की आवभगत

पर जब यह ज्ञात हो गया कि आई० एन० ए० के वीर जनता के हृदय पर अधिकार कर चुके हैं, तो इन महामान्य नेताओं ने जिनकी जबान पर सब समय अहिंसा और सत्य रहता है, फौरन अपनी नीति बदल दी। फिर क्या था, कांग्रेस ने पूर्णतः आई० एन० ए० के प्रश्न को उठा लिया और आई० एन० ए० की डिफेन्स तथा रिलीफ कमेटियाँ बात की बात में बन गई। फिर तो इन वीरों की ऐसी आवभगत तथा प्रशंसा हुई कि कांग्रेस के इतिहास में अभूतपूर्व रहा। यदि मेजर जेनरल शाहनवाज, सहगल और ढिल्लन के मुकद्दमे के नतीजे में उनको फाँसी या लम्बी सजा होती जैसा कि भगतसिंह आदि को हुई थी, तब तो अहिंसा उन्हें जल्दी हजम कर पाती, क्योंकि यदि फाँसी हो जाती, तो छुट्टी हो ही जाती और लम्बी सजा के बाद छूटने पर जनता उन्हे भूल जाती। पर दुर्भाग्य से (अहिंसा न लिये दुर्भाग्य से) सरकार ने जो कि बुढ़भस के कारण मतिहीन हो चुकी थी खसम किया और करके फिर उसे छोड़ दिया, इस कहावत को चरितार्थ करते हुए दोहरी गलती कर इन वीरों को छोड़ दिया। फिर तो इन वीरों की अभूतपूर्व आवभगत और स्वागत हुआ। नगरों में आपस में होड़ मच गई कि कौन इनका अधिक स्वागत करे। इतना स्वागत हुआ कि बड़े से बड़े कांग्रेस नेता के दिल पर एकबार साँप लोट गया होगा। वे कांग्रेस के हाईकमांड के लिये एक समस्या और दर्द-सर हो गये।

आठ वर्ष बाद बदला

अवश्य तब से मेजर जेनरल शाहनवाज और उनके साथी

अहिंसा के प्रति अपना विश्वास प्रकट कर चुके हैं, फिर यह तो सभी जानते हैं कि उनकी पूजा अहिंसा के प्रति विश्वास के लिये नहीं, बल्कि और ही कारणों से हो रही थी। प्रत्येक सही दिमाग व्यक्ति इस वास्तविकता को जानता है और ये वीर भी इसे जानते थे। महात्मा जी के लिये कितना दुःखकर दृश्य था ? जिस समय १९३७ में काकोरी कैदी १२ वर्ष जेल में रहने के बाद छूटे प्रकांड जलूसों तथा बड़ी भारी सभाओं में इनका स्वागत किया गया था। सैकड़ों की तादाद में हस्ताक्षर के शिकारी उनके पीछे पड़ गये। इससे महात्मा जी को स्वाभाविक रूप से बहुत क्षोभ हुआ। अपने मीनार पर बैठे बैठे जहाँ से वे सब कुछ देखा करते थे, महात्मा जी को ये दृश्य असह्य हो गये। उन्हें दुःख हुआ कि इस प्रकार दागी क्रान्तिकारियों का स्वागत तथा सम्मान हो रहा था। उनसे देखा न गया और उन्होंने इन प्रदर्शनों के विरुद्ध एक कड़ा वक्तव्य दिया जिसमें उनको अशोभन (Unseemly) बतलाया था। पर कैसी ट्रेजेडी रही ? इसके ठीक आठ वर्ष बाद तीन वीर जिनमें से प्रत्येक ने काकोरी में फाँसी पाये हुए सब शहीदों ने अर्थात् रामप्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्र लाहिड़ी, रोशन सिंह, अशफाकुल्ला ने मिलकर जितनी 'हिंसा' की कल्पना भी नहीं की थी, उससे अधिक हिंसा की थी और उनके सम्मान में प्रदर्शन हो रहे थे और अहिंसा के अवतार को यह सब चुपचाप देखना पड़ रहा था। केवल यही नहीं जब ये लोग छूटे तो गान्धी जी को इनका स्वागत करके तार देना पड़ा। इस प्रकार आठ साल बाद बदले की लहर गान्धी जी के सिर पर चढ़ कर बोली।

प्रशंसाओं से वृहत्तर क्रान्ति की नींव

गान्धी जी ने जिन कुसंस्कारों की घासों को बड़े प्रेम तथा परिश्रम से वर्षों में बोया था, १९४२ ने उनकी जड़ों को उखाड़ कर फेंक दिया, अब इसके बाद आई० एन० ए० के वीरों का जब स्वागत

हुआ तो उन पर पटेला डल गया और आगे को नई खेती चल पड़ी। इसमें कोई भूल न हो दक्षिणपंथियों १६४२ तथा आई०-एन० ए० की प्रशंसा कर क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का बीज बोने में हाथ बटाया है और इसमें सन्देह नहीं कि इसके फलस्वरूप जो फसल होगी वह वृहत्तर क्रांति होगी।

नेतागण समझते हैं

यह बात नहीं कि गांधी जी इस बात को नहीं समझते हैं। नहीं सब नेताओं में वे ही एक ऐसे हैं जो सारे परिणामों का तखमीना लगा पा रहे हैं। तभी तो अपने बंगाल और मद्रास के दौरे में बराबर अहिंसा पर बोलते रहे। उन्होंने कार्यसमिति को बहुत जोरदार शब्दों में अहिंसा में विश्वास प्रकट करने के लिये कहा है।

अहिंसा पर कार्यसमिति का प्रस्ताव

कलकत्ते में कार्यसमिति में अहिंसा पर जो प्रस्ताव (दिसम्बर १६४५ को पास हुआ था वह यों है -

"१६४२ के अगस्त में मुख्य कांग्रेसियों की गिरफ्तारी के बाद नेतृत्वहीन जनता ने बागडोर अपने हाथों में ले ली और स्वतः स्फूर्त रूप से काम किया। यदि उनको बहुत सी वीरता तथा कुर्बानी के कार्यों के लिये श्रेय मिलना चाहिये, तो दूसरी तरफ उन्होंने ऐसे भी कार्य किये जो अहिंसा के अन्दर नहीं आ सकते। इसलिये कार्यसमिति के लिये यह जरूरी हो गया है कि सब के पथप्रदर्शन के लिये वह इस बात को साफ कर दे कि अहिंसा के अन्दर सार्वजनिक सम्पत्ति का जलाना, तारों का काटना, गाड़ियों को पटरी से उतारना तथा भयप्रदर्शन नहीं आते।"

"कार्यसमिति का यह मत है कि १६२० को कांग्रेस में अहिंसा सम्बन्धी जो प्रस्ताव हुआ था और जिसकी समय समय पर व्याख्या और विशदीकरण हुआ था और जिसके अनुसार इन वर्षों में कार्य

हुआ था, उसी के कारण भारत का सिर इतना ऊँचा हुआ है जितना कभी नहीं हुआ था ."

" कार्यसमिति का यह भी मत है कि कांग्रेस के रचनात्मक कार्य-क्रम, जिसके प्रारम्भविन्दु चर्खा तथा खद्दर है, अहिंसा के ही प्रतीक के रूप में हैं और अन्य सभी कांग्रेस कार्य जिसमें व्यवस्थापिका सभाओं का कार्य-क्रम है महात्मा गान्धी के द्वारा प्रतिपादित रचनात्मक कार्य-क्रम के मुकाबले में गौण है।"

"कार्य समिति का यह भी मत है कि सार्वजनिक या और किसी प्रकार का सत्याग्रह जिसका उद्देश्य स्वतंत्रता की प्राप्ति है तब तक अकल्पनीय है जब तक भारतीय जनता के द्वारा रचनात्मक कायक्रम अधिक से अधिक पैमाने पर स्वीकृत नहीं होता।"

आजाद हिन्द फौज पर कार्यसमिति

अहिंसा सम्बन्धी इस प्रस्ताव की पुनरावृत्ति के साथ-साथ इसी बैठक मे आई० एन० ए० पर जो प्रस्ताव पास हुआ, उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इस प्रस्ताव के शब्द यो हैं:—

"काग्रेस इस बात पर गर्वित होते हुए भी विदेशो में अभूतपूर्व परिस्थितियो मे श्री सुभापचन्द्र बोस ने जिस आजाद हिन्द फौज का संगठन किया, उसके लोगों ने कुर्बानी, अनुशासन, देशभक्ति, बहादुरी तथा अपनी सदभावनाओं का प्रदर्शन किया, तथा यह मानते हुए भी काग्रेस के लिये यह उचित तथा ठीक ही है जिन पर मुकदमा चल रहा है उनकी पैरवी की जाय और इस फौज के ऐसे लोगो को जिनको मदद की जरूरत है मदद दी जाय, काग्रेसियों को यह नहीं भूलना चाहिये कि इन लोगो की पैरवी करने या इनको मदद देने का अर्थ यह हर्गिज नहीं है कि कांग्रेस किसी भी तरह स्वराज्य प्राप्त करने की अपनी अहिंसा सम्बन्धी नीति से विचलित हो गई है।"

दबाव राजनीति में सबके झोंकने की चेष्टा

इन शब्दों पर विशेष ध्यान दीजिये कि "कांग्रेसियों को यह नहीं भूलना चाहिये कि इन लोगों की पैरवी करने या इनको मदद देने का अर्थ यह हर्गिज नहीं है कि कांग्रेस किसी भी तरह स्वराज्य प्राप्त करने की अपनी अहिंसा सम्बन्धी नीति से विचलित हो गई है।" इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आजाद हिन्द फौज के वीरों की प्रशंसा का उद्देश्य केवल यह था कि उस से दबाव मूलक राजनीति को फायदा पहुँचे।

राष्ट्रपति का वक्तव्य

कांग्रेस कार्य समिति की इस बैठक के अन्त के बाद राष्ट्रपति ने एक प्रेस कानफरेन्स में बताया कि मैं इस बात पर जोर देकर कहता हूं कि अहिंसा सम्बन्धी प्रस्ताव बहुत ही बल्कि सब से महत्वपूर्ण है क्यों कि १९४२ के अगस्त संग्राम से लोगों में यह विश्वास हो चला है कि अहिंसा सम्बन्धी कांग्रेसी प्रतिज्ञा आम तौर से देशवासियों पर तथा विशेषकर कांग्रेसियों पर लागू नहीं है। लोगों में अब यह भावना जोर पकड़ रही है कि राजनैनिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिये जो संग्राम हो रहा है, उसमें अहिंसा पर अधिक डटने की जरूरत नहीं है। यह बिलकुल गलत है। सार्वजनिक मन में इस उठती हुई गलतफहमी को दूर करने के लिये ही कार्यसमिति ने इस प्रस्ताव को दुहराया है। हमने यह जरूरी समझा कि अपनी सारी ताकत लगाकर अहिंसा की प्रतिज्ञा को दुहराई जाय। हमने इसीलिये जोर लगाकर यह साफ कर दिया कि हम राजनैतिक आजादी की प्राप्ति के लिये अहिंसा को ही एकमात्र उपाय समझते हैं।

आजाद हिन्द फौज पर जो प्रस्ताव पास किया गया उसके साथ अहिंसा का प्रस्ताव दुहराना जरूरी था। आजाद हिन्द फौज के प्रति हमारी सहानुभूति समर्थन का यह अर्थ न लगाया जाय कि कांग्रेस

किसी भी प्रकार पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने की अपनी अहिंसा सम्बन्धी नीति से विचलित हो गई है।

इतिहास की शक्तियां प्रस्तावों से नहीं रुकती

यह तो स्पष्ट ही है कि क्यों इस प्रकार का प्रस्ताव पास किया गया तथा क्यों इस पर इतना जोर दिया गया, पर इस प्रस्ताव के महामान्य निर्माताओं को यह समझना चाहिये था कि इतिहास की शक्तियां कोई पालतू नहरें नहीं हैं कि जिनको जिधर चाहे उधर चला दिया जाय। वे तो प्रलयकारी महाधाराओं की तरह हैं जो क्रान्ति के महासागर में जाकर ही विश्राम कर सकती हैं। जिन लोगों ने एकतरफा सत्य अहिंसा को अपना ध्येय बना रक्खा था, उन्हें चाहिये था कि वे १९४२ की क्रान्ति तथा आजाद हिन्द फौज से कोढ़ की तरह बचते, पर इसके लिये वे तैयार नहीं थे। वे जनता के जोश की तरङ्गों पर सवार होने का प्रलोभन नहीं छोड़ सके और यही उनके नाश का कारण स्वरूप हुआ। गांधी जी तथा अन्य दबावमूलक राजनीति के प्रतिपादक कितना भी यह कहें कि १९४२ के वीरों तथा आजाद हिन्द फौज की वीरता की ही उन्होंने प्रशंसा की है न कि उनके तरीकों की, इससे कुछ न होगा। जनता ने अपना सबक सीख लिया है और अगले संग्राम में वह इस बात का परिचय देगी कि उसने क्या सीखा है। सच बात तो यह है कि तब से बराबर वह इस सबक को छोटे या बड़े पैमाने पर दुहराती रही है कि कहीं भूल न जाय।

नेतागण समझेंगे कि चीजें किधर जा रहीं हैं

लाखों गांधी से प्रबल शक्तियां जनता और कांग्रेस को हमारे क्रांति-भीत नेताओं के बताये हुए मार्ग से अलग लिये जा रही है। अवश्य कुछ समय बाद नेतागण यह महसूस कर ले कि अहिंसा के अडे को ज्यों का त्यों कायम रखना और १९४२ तथा अजाद हिन्द

फौज की प्रशंसा करके उसको खाना सम्भव नहीं है। तब वे शायद कांग्रेस को जनता के क्रांतिकारी वाहन के रूप में विकसित होने देने से इनकार करें।

चौथा अध्याय

एक दल तथा एक नेतावाला प्रतिक्रान्तिकारी सिद्धान्त

किसी भी दिन नेतागण बिगड़ कर खड़े हो सकते हैं और कह सकते हैं कि अबतक हमने सब कुछ सहा, सब कुछ होने दिया, पर इससे हिंसा की शक्तियां बढ़ती ही रही हैं, अब हमें रुको कहकर खड़ा हो जाना चाहिये और कांग्रेस को ऐसी सब शक्तियों से शुद्ध कर देना चाहिये जो इसे गुमराह कर रही हैं।

'कांग्रेस को क्रान्तिकारियों पाक करो' का नारा

सच तो यह है कि इस प्रकार की आवाजें कांग्रेस के अन्दर उठ चुकी हैं, और रोज बरोज उनका जोर बढ़ रहा है। मैंने पहले ही श्री शंकरराव देव का उद्धरण दिया है, जो यह चाहते हैं कि कांग्रेस को ऐसे वामपक्षी तथा समाजवादी तत्वों से शुद्ध किया जाय जो मौका पड़ने पर फिर इसे दबावमूलक राजनीति से हरा कर गुमराह कर सकते हैं। इसी कारण कांग्रेस के अन्दर, जोरों के साथ 'एक दल, एक नेता' का नारा उठ रहा है।

ऐसे नारेवालों में कुछ कम्युनिस्टों के रवैये से डरे हुए हैं

इस प्रकार के नारे देने वाले लोगों के प्रति न्याय करने के लिये यह जरूरी है कि हम यह बता दें कि जो लोग ये नारे दे रहे हैं, वे सब के सब गांधीवादी दबावमूलक राजनीति के ही कायल हों ऐसी बात नहीं। सच बात तो यह है कि इन लोगों में कई अच्छे क्रांतिकारी उपादान हैं, पर ये लोग कथित कम्युनिस्ट पार्टी के पतन तथा गद्दारी से विचलित तथा भयभीत होकर इस नारे की गोद में जाकर गिरे हैं। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय की सातवीं कांग्रेस से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस का एक अंग हो गई थी, पर समाजवादी रूस पर नात्सी आक्रमण के छै महीने बाद इस पार्टी ने भारत में जन-युद्ध का नारा दिया और तब से इसकी नीति यह रही कि भारत की साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियों की पीठ में छूरी भोंकी जाय।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का रिकार्ड

ये लोग जो अपने को मार्क्सवादी तथा कम्युनिस्ट कहते हैं यदि १९४२ की क्रांति के समय हमारे साथ गद्दारी नहीं करते तो यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि १९४२ की क्रांति का इतिहास ही कुछ और होता। यदि कोई भूतकाल में इस पार्टी का क्या इतिहास रहा है इसे देखे, तो ज्ञात होगा कि इसने हमेशा साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियों को आन्दोलनों के समय धोखा दिया, पर १९४२ में तो इसने अपनी गद्दारी के सारे रिकार्डों को भी तोड़कर रख दिया।

रूस के साथ सहानुभूति पर असमर्थ

समाजवादी रूस पर नात्सियों के हमले से पूरा प्रगतिशील जगत विचलित हुआ था, पर भारत के ऐसा एक देश जो स्वयं पराधीनता के नागपाश में जकड़ा हुआ था, इसमें क्या कर सकता था? वह तो समाजवादी रूस को तभी मदद दे सकता था, जब वह स्वयं पराधीनता के इस कठिन फन्दे से छूट जाय, पर इन कथित

कम्युनिस्टों ने इस सरल बात को देखने से इनकार किया और एक मूर्खतापूर्ण तर्कजाल से परिचालित होकर और वास्तविकता से साथ ही भारतीय जनता से वियुक्त होकर एक ऐसी नीति का अनुसरण किया जिससे उनका और साथ ही क्रांति का पटेला हो गया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के लिये सब से बढ़कर शर्म की बात है कि लोकयुद्ध का नारा देते हुए भी इसका एक भी सदस्य युद्ध में जाकर इस प्रकार शहीद नहीं हुआ जिस प्रकार स्पेन के गृहयुद्ध में क्रांतिकारियों को ओर लड़कर डेविड गेष्ट या फाक्स शहीद हुए थे।

कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवाद छोड़ रोमैंस में पड़ गई

एक मार्क्सवादी के लिये सब से बड़ी बात यह है कि वह किसी भी हालत में वास्तविकता से अलग न हो, पर सैद्धान्तिक स्पष्टता के जोश में इन कम्युनिस्टों ने अपने को वास्तविकता से अलग कर लिया। मेहनतकश जनता ही क्रांति की चुनी हुई परम शक्ति है, पर अपने मूर्खतापूर्ण कठमुल्लेपन से परिचालित होकर ये इससे अलग हो गये। इस प्रकार वे १९४२ की क्रांति के प्रति ही जो भारत में साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियों का सब से बड़ा संग्राम था, गद्दार साबित नहीं हुए, बल्कि इन्होंने मार्क्सवाद का भी परित्याग कर दिया। इस क्षेत्र में भी बदले की लहर बहुत दिनों बाद सिर पर चढ़ कर बोली। १९३६-४३ के अपने पौबारह के जमाने में इन कम्युनिस्टों ने पुराने क्रांतिकारियों को (Romanticists) तथा (Adventurists) कह कर गालियाँ दीं थी क्योंकि इन लोगों ने जनता से वियुक्त होकर अपने आदर्शों का अनुसरण किया था। अब अपने जन-युद्ध में ये कम्युनिस्ट उनसे बढ़ कर रोमैंटिकवादी और ऐडवञ्चरवादी साबित हुए। पुराने रोमैंटिकवादियों ने, यदि वे रोमैंटिकवादी थे तो अपने रोमैंटिकवाद से किसी को नुकसान नहीं पहुँचाया था। सच तो यह है कि अपने प्राणों की आहुति देकर

तथा अपने अध्यवसाय से ही उन्होंने क्रांति के अलख को जगा रक्खा था, पर अब की बार के ये नवरोमैंसवादी, ये वास्तविकता तथा जनता से वियुक्त सिद्धान्तों की दन्तकटाकटी करने वालों ने तो १९४२ की क्रांति के अवसर पर जनता को खूब धोखा दिया।

इनके कारण मार्क्सवाद तथा रूस पर बट्टा लगा

इस प्रकार यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ये कम्युनिस्ट मार्क्सवाद की सुख्याति में कलंक लगाने वाले समझे जाते हैं। इन्हीं की गद्दारियों का नतीजा है कि भारतवर्ष में आज मार्क्सवाद की साख बहुत गिर चुकी है। ये यह दावा करते हैं कि ये सोवियट रूस के मित्र तथा उसके एकमात्र व्याख्याता हैं, पर इन्हीं की गलत नीतियों का परिणाम है कि भारत की मेहनतकश जनता तथा बहुत प्रगतिशील बुद्धिवादियों में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ रही है जो सोवियट रूस को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। इन कम्युनिस्टों की गद्दारी इतनी बड़ी थी कि रूस के प्रयोगों को ऐसी पहेलियों के रूप में देखने की प्रवृत्ति बढ़ रही हैं जिनके सम्बन्ध में लोग कहते हैं चुप रहना ही अच्छा है।

पर पूंजीवादी चालाकियों से सावधान

अवश्य इस प्रकार कम्युनिस्टों के कारण रूस और मार्क्सवाद के विरुद्ध नतीजे निकालने की प्रवृत्ति जो है, उसमें आंशिक रूप से यह भी बात है कि पूँजीवादी वर्ग कम्युनिस्टों की गद्दारियों से उत्पन्न भावनाओं को अपने स्वार्थ के लिये उपयोग करने की दृष्टि से कार्यशील हैं। यह चालाकी इतनी साफ है कि झट पकड़ में आ जाती है। यह चालाकी चल नहीं सकती और प्रत्येक प्रगतिशील भारतीय चाहे उसके कुछ भी विचार हो इसके विरुद्ध डटकर लोहा लेगा। पर इस क्षेत्र में कम्युनिस्ट पार्टी ने चीजें कठिन कर दी हैं, इसमें सन्देह नहीं। चाहे ये कठमुल्ले जनता तथा साथ ही वास्तविकता से वियुक्त मूर्खता

के स्वर्गनिवासी कम्युनिस्ट कुछ भी करें प्रगतिशील भारतीय की दृष्टि में रूस एकमात्र देश है जिसके लिये विगत महायुद्ध सचमुच जनयुद्ध था। रूस ही गत महायुद्ध में एक ऐसा देश था जिसने सचमुच पृथ्वी के एक छुटे भाग में समाजवाद की रक्षा और हो सके तो समाजवादी हिस्से के विस्तार के लिये लड़ाई की, जैसा कि बाद को रूस ने अपने पड़ोसियों के प्रति जिस नीति का अनुसरण किया, उससे जाहिर है। बाकी सब महाशक्तियाँ तो अपने साम्राज्यवादी स्वार्थों के लिये लड़ रही थीं।

बाद की घटनाओं से लोकयुद्ध का नारा गलत प्रमाणित

कम्युनिस्टों के द्वारा दिया हुआ जनयुद्ध का नारा बिलकुल गलत था यह हिन्देसिया, अनाम तथा अन्य देशों की परिस्थिति से प्रमाणित है कम्युनिस्टों ने कहा था कि महायुद्ध के दौरान में ऐसी क्रांतिकारी शक्तियाँ मुक्त हो जायेंगी कि लड़ाई के पहले जो परिस्थिति थी, उसकी पुनः स्थापना नहीं हो सकती इङ्गलैंड में लेबर मंत्रीमंडल के शक्ति-आरूढ़ होने से ऐसा प्रतीत होने लगा था कि शायद इन लोगों ने जो भविष्यवाणी की थी, उसमें कुछ सचाई हो, पर शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि लेबर सरकार अपनी पूर्ववर्ती सरकारों से कम साम्राज्यवादी नहीं हैं। इतना ही नहीं हिन्देसिया की स्वतन्त्रता की लड़ाई में इसने जिस प्रकार सशस्त्र हस्तक्षेप कर वहाँ के लोगों की हत्या तथा लूट में हाथ बटाया, उससे ज्ञात हो गया कि इसे साम्राज्य प्राणों से भी प्यारा है और यह समझती है कि लड़खड़ाते हुए डच तथा फ्रेञ्च साम्राज्यवाद को सहारा देकर तथा साम्राज्यवादों का संयुक्त मोर्चा बना कर इन्हें बचाना इसका नैतिक कर्तव्य है। एटली ने ऐसे नैतिक कर्तव्य की बात कही भी। मिस्टर बेविन ने चर्चिल के पदांक का अनुसरण कर कहा है, 'मैं ब्रिटिश साम्राज्य को बलिदान करने के लिये तैयार नहीं हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि यदि ब्रिटिश साम्राज्य का पतन हो गया तो स्वतंत्र जातियों के

सब से बड़ा समूह भूतकाल के रसातल में चला जायगा और महान अनर्थ की सृष्टि होगी।" (पार्लियामेन्ट में व्याख्यान २१-२-४६)

युद्ध के बाद क्रान्ति की शक्तियां तगड़ी हुई, पर ..

लड़ाई के बाद दुनिया में जो कुछ भी हुआ उससे कम्युनिस्ट पार्टी के जनयुद्ध नारे की मूर्खता और असत्यता सम्पूर्ण रूप से प्रमाणित हो गई। अवश्य ही जगत की प्रगतिशील शक्तियाँ आज पहले से कहीं तगड़ी हैं, पर न तो यह कोई अनहोनी बात है और न आश्चर्यजनक ही है। क्या प्रथम साम्राज्यवादी युद्ध (१६१४-१८) के दौरान में तथा उसके बाद अब तक की दुनिया में सब से बड़ी प्रगतिशील शक्ति समाजवादी रूस का अभ्युदय और विकास नहीं हुआ था ? उसकी तुलना में तो द्वितीय साम्राज्यवादी युद्ध (१६३६-४५) ने जगत को कुछ नहीं दिया। दुनिया तो अपनी अन्तर्निहित असंगतियों से परिचालित होकर वास्तविक स्वतंत्रता या समाजवाद की ओर जा रहा है, पर यह दूसरी बात है। वे शक्तियाँ कहाँ है। जिनके सम्बन्ध में जनयुद्ध वालों ने कहा था कि जनयुद्ध से उदभूत होगी ? भारतीयों के लिये जो निरन्तर साम्राज्यवाद की चक्की में पिस रहे हैं, विश्वशक्तियों का जनयुद्ध वाला निदान एक तमाशा रह जाने के लिये बाध्य है। अवश्य सम्भव है भारत को कुछ सुधार मिलते जायँ, पर ये सुधार भी उन्हीं शक्तियों के दबाव के कारण मिलेंगे जो ऐसी जनशक्ति है जो सम्पूर्ण रूप से जनयुद्ध सिद्धान्त के विरुद्ध थी।

जो अंत में हँसे उसका हँसना अच्छा

जिस समय लेबर सरकार आई, उस समय कम्युनिस्ट हँसे। उनकी इस गुस्ताखी भरी हँसी का अर्थ यह था कि यह देखो वे प्रगति की शक्तियाँ हैं जिनकी सृष्टि युद्ध के दर्मियान हुई और वे तुम्हें बिना जनसंग्राम के मुक्त कर देने जा रही है। पर उसके बाद लेबर सरकार का भारत ने काफी देख लिया और हम जानते हैं कि गुणगत रूप से

यह उस चीज से भिन्न नहीं है जिसके हम इसके पहले आदी नहीं थे। हँसना उसी का ठीक है जो अन्त में हँसता है। लेनिनवादी आत्म-समालोचना का यह तकाजा है कि भारतीय कम्युनिस्ट अपनी गलतियों को मान कर प्रगतिशील दायरे में लौट आवें। कठिन तथ्यों के सामने फजूल का घमंड तथा व्यर्थ की जिद्द का और कहीं स्थान हो मार्क्सवादी कार्यपद्धति में कोई स्थान नहीं है।

मात्रा के अन्दर ही चीज अच्छी

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने जिस प्रकार क्रांतिकारी शक्तियों के साथ विश्वासघात किया उसको देखते हुए 'एक दल, एक नेता' का नारा न तो उतना द्वेषपूर्ण ही ज्ञात होगा और न उतना मूर्खतापूर्ण। पर प्रत्येक बात एक मात्रा के अन्दर ही अच्छी होती है। जब कोई चीज, चाहे वह कितनी भी अच्छी हो, सही मात्रा के बाहर चली जाती है, तो इससे लाभ के बजाय हानि होती है।

पार्लियामेंटनुमा संस्था के रुप में कांग्रेस की उत्पत्ति

एक दल और एक नेता को सही परिपेक्षित (Perspective) में देखने के लिये यह जरूरी है कि कांग्रेस संगठन को अच्छी तरह समझा जाय। थोड़े में यह देखा जाय कि कांग्रेस किस प्रकार की संस्था रही है। क्या एक दल के रूप में ही इसकी बराबर तरक्की हुई है ! इसके विपरीत हम देखते हैं कि शुरू से ही यह पढ़े लिखे लोगों की एक विवादशील पार्लियामेंन्टनुमा संस्था थी। इस संस्था में लाखों मूक जनता का बाद को प्रवेश हुआ। गांधी जी को ही यह श्रेय है कि उन्हीं के नेतृत्व में कांग्रेस के पढ़े-लिखे लोगों ने जनता को प्रवेश-पत्र दिया। पर हम इस प्रश्न में बहक न जायँ। मैं तो पहले ही दिखा चुका हूँ कि इस सम्बन्ध में महात्मा जी का कितना भारी दान है।

हम यहाँ पर केवल इस प्रश्न पर आलोचना करेंगे कि कांग्रेस

एक मञ्च रहा है या दल। जिस समय कांग्रेस को जन्म देने के उद्देश्य से मुट्ठीभर—ठीक ठीक सौ आदमी कलकत्ते में एकत्र हुए थे, उस समय श्री आनन्दमोहन बोस ने इस मंडली का अभिनन्दन करते हुए, इसे शिशु पार्लियामेन्ट बताया।

१९०७ में कांग्रेस में दो दल

कोई १६०७ तक कांग्रेस केवल बहुत-कुछ एक वादविवाद सभा रही, पर बंगभंग आन्दोलन से उदबुद्ध जनशक्ति के दबाव के कारण कांग्रेस में जीवन के स्पदन का उदय हुआ। उस समय दो भिन्न-भिन्न मतवाले लोग काग्रेस के अन्दर थे। एक मतवाले दूसरे से गरम थे। फिर भी १६०७ में विचारों का संघर्ष हुआ। इस संघर्ष का यहां तक जोर हुआ कि इस अधिवेशन मे महामान्य सदस्यों ने कुर्सीबाजी की और एक दूसरे को छड़ी दिखाकर डराया। यही काँग्रेस का सुप्रसिद्ध सूरत अधिवेशन था।

नरम और गरम दो दल

कांग्रेस के स्वीकृत इतिहास-लेखक श्री सीतारमैया सूरत कांग्रेस के सम्बन्ध में लिखते हैं "इतने दिनों बाद इन दोनों दलों के मत सम्बन्ध में कुछ विचार कायम करना सम्भव है। इन दो दलों में कांग्रेस द्वारा स्वीकृत मतानैक्य था इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।" उन दिनों इन दोनों दलों को लोग नरम दल और गरम दल कहते थे और इनके नेता क्रमशः गोखले और तिलक ऐसे महान नेता थे। इन दो दलों के अपने-अपने सुसगठित अनुयायी मण्डल थे। ये दल पहले ही से तय करके आते थे कि कांग्रेस के अन्दर किस प्रकार की नीति से काम लिया जायगा। इन दलों के नेताओं के व्याख्यान की रिपोर्टों को पढ़कर यह ज्ञात होता है कि एक दल दूसरे दल के विरुद्ध खूब कटाक्ष करता था और तर्क के आवेश में लोग अक्सर अपना भारसाम्य खो डालते थे।

१९२२ में गांधी जी के चेलों में दो दल

इस प्रकार यह साबित है कि गांधी जी के आने के पहले कांग्रेस के अन्दर पार्टियां थीं। फिर अपने पहले से श्रेष्ठ गांधी जी की दबावमूलक राजनीति के युग में आकर हम देखते हैं कि १६२६ के बाद ही कांग्रेस करीब-करीब दो टुकड़े होते रह गई। स्मरण रहे यह दो टुकड़े होने की नौबत इस कारण नहीं हुई कि उसमें श्री शंकर-राव देव के अनुसार जो विदेशी उपादान हैं वे समाजवादी आ गये। इसके विपरीत गांधी जी के चेलों या अनुयायियों में ही मतभेद हो जाने के कारण इस प्रकार कांग्रेस के दो टुकड़े होने की नौबत आई थी। इसके साथ ही यह स्मरण रक्खा जाय कि श्री राजगोपाला-चार्य के नेतृत्व में जो अपरिवर्तनवादी (No-changers), और श्री दास और पंडित मोतीलाल के नेतृत्व में जो परिवर्तनवादी (Pro-changers) थे, इनमें का मतभेद केवल स्वतंत्र मत के प्रकाश के ढङ्ग पर नहीं था, बल्कि सुसंगठित पार्टीलाइन पर था। इस स्थान पर इन दलों के इस पुराने विस्मृत झगड़ों के ब्यौरे में जाने की जरूरत नहीं है, पर इनके झगड़ों की प्रकांडता कितनी थी इसे थोड़े में दिग्दर्शन करा देना अच्छा होगा।

इन दलों में झगड़े की भीषणता

श्री सुभाषचन्द्र बोस द्वारा दिये गये इस विवरण से इन दलों के झगड़ों की भीषणता साफ हो जायगी:—

"१६२२ के गया अधिवेशन के पहले विषयनिर्द्धारिणी समिति में इस विषय पर तुमुल वादविवाद हो चुका था, इस विवाद के बाद वोट द्वारा निर्णय के लिये यह मामला खुले अधिवेशन में आया। श्री श्रीनिवास आयंगर ने जो मद्रास बार (Bar) के नेता थे और उस प्रान्त के ऐडवोकेट जेनरल के पद से इस्तीफा देकर आये थे, इस आशय का एक संशोधन प्रस्ताव रक्खा कि कांग्रेस के प्रतिनिधिगण

चुनाव में तो भाग लें, पर धारासभाओं के अन्दर के कामों में हिस्सा न लें। इस संशोधन प्रस्ताव पर मुख्य वोटिंग हुई और महात्मा जी के अनुयायिओं की बड़ी भारी विजय हुई। इस पर उनकी खुशी का वारापार नहीं रहा और उस दिन के वीर मद्रास के श्री राजगोपालाचार्य थे जो गांधीवाद के प्रधान प्रतिपादक के रूप में सामने आये। अब श्री दास की परिस्थिति बड़ी अजीब हो गई। वे ही कांग्रेस के राष्ट्रपति थे, पर उन्होंने जो योजना बनाई थी, वह वोटों से गिरा दी गई थी। भविष्य में वे क्या करें इस बात के निर्णय के लिये उन्होंने अपने अनुयायिओं की एक सभा बुलाई। यह तय पाया कि वे राष्ट्रपतित्व से इस्तीफा दें और स्वराज्य पार्टी के नाम से अपना एक दल संगठित करें। दूसरे दिन जब कांग्रेस का अधिवेशन इस बात के लिये हुआ कि अगले साल अर्थात् १६२३ के लिये कार्यक्रम का निर्णय किया जाय तो पंडित मोतीलाल ने खड़े होकर स्वराज्य पार्टी के संगठन की घोषणा की। इस घोषणा से महात्मा जी के अनुयायिओं को बहुत बड़ा धक्का लगा और उनके खुश चेहरे काले पड़ गये। कांग्रेस के अधिकांश विद्वान नेता देशबन्धु की तरफ थे और इसमें सन्देह नहीं था कि उनके बगैर कांग्रेस का प्रभाव तथा बल बहुत घट जाता। पंडित मोतीलाल जी ने जो घोषणा की थी, उसकी उस समय पुष्टि हुई जब श्री दास ने उस दिन के तर्कों पर मन्तव्य करते हुए अपने इस फैसले की बात सुनाई कि वे राष्ट्रपतित्व के पद से इस्तीफा देना चाहते हैं जिससे वे स्वीकृत प्रस्तावों से विरुद्ध कार्य कर सकें ताकि देश उनकी योजना को स्वीकार करे। गांधी जी के अनुयायी गया से अपनी विजय पर सन्तुष्ट होकर तो गये, पर वे सुखी नहीं थे क्योंकि कांग्रेस के अन्दर दो टुकड़े हो गये थे। स्वराज्य पार्टी वालों के दिल में पराजय की भावना तो थी, पर वे लड़ने तथा जीतने पर कृतनिश्चित थे।"

दो समानान्तर कांग्रेस की नौबत

इसके ब्यौरे से जाने की जरूरत नहीं कि किस प्रकार बाद को स्वराजियों ने अपनी पराजय को जय में परिणत कर लिया और किस प्रकार अपरिवर्तनवादियों को उनके विचारों को तरह देना पड़ा। पर हम एक उद्धरण और देंगे जिससे यह साफ हो जाय कि इन दो दलों का मतभेद कहाँ तक पहुँचा।

"मध्यम पंथियों ने दोनों दलों के बीच समझौते की कोशिश की। इसी समय बंगाल में अपरिवर्तनवादी हरा दिये गये और बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी एक मध्यमपंथी दल के कब्जे में (जो परिवर्तनवादियों के असर में था।) आ गई। इसके अनुसार मौलाना आक्राम खाँ प्रांतपति हुए। पर बंगाल प्रांतीय काग्रेस कमेटी के भूतपूर्व मंत्री श्री प्रफुल्ल घोष ने इनको दफ्तर पर कब्जा देने से इनकार किया। इस प्रकार दो अलग अलग काग्रेस कमेटियाँ काम करने लगीं, दोनों कहती थीं कि हम ही प्रतिनिधि कमेटी हैं।"

स्वराज्य पार्टी एक दल था

इस प्रकार जिस भी दृष्टि से देखा जाय कड़ी से कड़ी दृष्टि से भी स्वराज्य पार्टी एक दल था। यह दल यहां तक तैयार था कि काग्रेस दो टुकड़ों में टूट जाय तो जाय। पर इतने पर भी अपरिवर्तनवादियों ने जिनका कांग्रेस पर कब्जा था तथा उसमें बहुमत था कभी 'एक दल, एक नेता' का नारा नहीं दिया। यदि करते तो कांग्रेस के दो टुकड़े हो जाते और वह कमजोर हो जाती। मेरा कहने का यह मतलब नहीं कि स्वराज्य पार्टी कोई क्रांतिकारी पार्टी थी। इसके विपरीत बहुतों को तो ऐसा प्रतीत हुआ था कि यह पार्टी मुट्ठीभर चने के बदले जन्म सिद्ध अधिकार को त्यागना चाहती थी।

कौन क्रान्तिकारी कौन प्रतिक्रियावादी

सभी गुटबन्दियां तथा विद्रोह अच्छे नहीं होते। जैसा कि लेनिन

ने बड़ी योग्यता से कहा है, "विद्रोह उसी हालत में अच्छा कहला सकता है जब आगे बढ़ा हुआ उन्नतिशील हिस्सा पिछड़े हुए हिस्से के विरुद्ध विद्रोह का नारा बुलन्द करे।··· पर इसके विपरीत जब क्रांतिकारी हिस्से के विरुद्ध मौकावादी हिस्सा विद्रोह करता है, तो वह बुरा है।" पर इस क्षेत्र में कौन क्रांतिकारी था और कौन प्रतिक्रियावादी ? कौंसिल प्रवेश आदि कार्यों को असहयोग और सत्याग्रह अर्थात दबाव मूलक राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। बल्कि एक दूसरे का पूरक मात्र है। एक के बगैर दूसरा आधी ही रहेगा।

स्वराज्य पार्टी गान्धीवाद विरोधी

स्वराज्य पार्टी के चरित्र के विषय में सुभाष बाबू का यह कहना है, "इस दल के नेता तथा अनुयायीगण महात्मा जी के व्यक्तित्व की अधिक से अधिक इज्जत करते थे। पर यह दल खुल्लमखुल्ला गांधी विरोधी दल था और यह दल इतना तगड़ा था कि इसने गांधी जी को राजनीति से स्वेच्छापूर्वक छुट्टी लेने के लिये विवश किया। यह राजनैतिक संन्यासग्रहण करीब करीब कलकत्ता कांग्रेस तक चला। नतीजा यह हुआ इस बीच में स्वराज्य पार्टी का ही बोलबाला रहा।"

श्रीदास और मोतीलाल जी द्वारा गांधीवाद का विशदीकरण

यह द्रष्टव्य है कि उन दिनों के अपरिवर्तनवादी बाद को चलकर धारा सभाओं के कार्यक्रम के सब से बड़े समर्थक हो गये। अब यह सत्यता के साथ कहा जा सकता है कि जिसे गांधीवादी दबावमूलक राजनीति कहा जाता है, उसके आधे के आविष्कारक गांधी जी तथा आधे के आविष्कारक श्री दास तथा पं० मोतीलाल जी थे। तब से कांग्रेस १० में, ९ साल तो इन दो महानुभावों के मार्ग में चलती है, और एक साल गांधी जी के मौलिक मार्ग में चलती हैं। गांधी जी के

भक्तों ने अपने गुरु को बढ़ाने के लिये गान्धीवादी दबावमूलक राजनीति को विकसित तथा पूर्ण करने में श्री दास और पं० मोतीलाल के दान को छोटा किया है। इस दबावमूलक राजनीति का अब स्वरूप यह है दो बार जेल जाने के बीच धारासभा, गोलमेज आदि।

फिर भी 'एक दल, एक नेता' का नारा नहीं

हमें यहाँ पर प्रत्यक्ष रूप से जिस बात से सम्बन्ध है, वह यह है कि यद्यपि उन दिनों श्री दास तथा पं० मोतीलाल का दल कांग्रेस को एक बिलकुल दूसरे ही मार्ग की ओर खींच रहा था तथा इन लोगों ने पृथक विधान इत्यादि युक्त एक पृथक दल का संगठन किया फिर भी 'एक दल, एक नेता' का नारा नहीं बुलन्द किया गया। यह अच्छा ही रहा क्योंकि कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के बाद इन दो दलों ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध संयुक्त रूप से लड़ाई लड़ी। इसके बाद तो स्वराज्य पार्टी का नाम ही नहीं सुना गया क्योंकि १९३५ के सुधार के बाद सारी कांग्रेस ही एक स्वराज्य पार्टी में तबदील हो गई।

१९२२ के ११ मार्च अर्थात् गांधी जी की गिरफ्तारी के दिन तक गान्धीवाद का जो रूप खुला था, उसके अनुसार स्वराज्य पार्टी को एक दक्षिणपंथी च्युति (Rightist deviation) कहा जा सकता था, पर जैसा कि हम दिखाया बाद को दोनों धारायें एक होकर पूर्णांग हो गईं। कांग्रेस के अन्दर वामपक्षी (Deviations) वामपक्षी च्युतियां भी हुई हैं। इन वामपक्षी लोगों ने भी कांग्रेस के अन्दर ही नहीं उसके बाहर भी अपने को दल के रूप में संगठित किया।

कांग्रेस में वामपक्षी विद्रोह पहले से

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है बहुत कहने सुनने पर भी

गान्धी जी ने स्वराज्य शब्द की व्याख्या नहीं की। यह भी पहले ही बताया जा चुका है कि इस समय के मुस्लिम लीगी नेता मौलाना हसरत मुहानी कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन (१६२२) में पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव पेश किया, पर स्वयं गांधी जी ने इसका विरोध किया। यह बात सच है कि महात्मा जी के महान व्यक्तित्व ने बहुत दिन तक इस प्रस्ताव को कांग्रेस के पास फटकने नहीं दिया, पर इसके बाहर पूर्ण स्वतंत्रता भारत का लक्ष्य करके घोषित किया जाय इसकी मांग बहुत जोरो से की जाती रही और रोज-बरोज इसका जोर बढ़ता ही रहा। रामप्रसाद विस्मिल, राजेन्द्र लाहिड़ी, रोशनसिंह और अशफाकुल्ला की फांसी ने इस मांग के अपने रक्त से जोर पहुँचाया। इसके बाद नौजवान सभाओं और बङ्गाल के क्रांतिकारियों ने इसको जोर पहुँचाया।

इन्डिपेन्डेन्स लीग का संगठन

यह जोर बढ़ते बढ़ते इतना बढ़ गया कि सुभाष बाबू जो बङ्गाल के क्रांतिकारियों में से ही थे (और इसी रूप में वे मन्डाले में नजर-बन्द किये गये थे) और पंडित जवाहरलाल जी जो उन दिनों यूरोप भ्रमण से साम्यवादी सिद्धान्त तथा रूस में उसके प्रयोग के प्रशंसक होकर लौटे थे, इण्डिपेन्डेन्स लीग या स्वधीनता संघ के सङ्गठन में लग गये। इस लीग का लक्ष्य पूर्ण स्वतंत्रता था और यह संस्था कांग्रेस के बाहर थी। इस लीग के सदस्यगण क्रांग्रेस के भी सदस्य थे और ये लोग कांग्रेस के अन्दर एक दल के रूप में कार्य करते तथा वोट देते थे। १६२८ तक यह दल इतना तगड़ा हो गया था कि कांग्रेस के हाई कमान्ड ने न केवल इसे स्वीकार कर लिया, बल्कि समय समय पर इनसे उन्हें समझौता करके काम करना पड़ता था।

इन्डिपेन्डेन्स लीग वालों की आजादी

क्रांग्रेस के सीतार मैया लिखित इतिहास से निम्नलिखित उद्धरण

से यह पता लग जायगा कि इस दल की कितनी ताकत थी तथा ये लोग किस प्रकार आजादी के साथ चलते थे—विषय निर्द्धारिणी कमेटी में काफी बहस-मुबाहसे के बाद स्वतंत्रता संघ और दूसरों के बीच एक समझौता हुआ। पर लोग इस समझौते से हट गये और खुले अधिवेशन में श्री सुभाषचन्द्र बोस ने एक संशोधन पेश कर दिया और श्री जवाहरलाल जी ने इसका समर्थन किया। मजे की बात है कि ये दोनों उस समझौते में शरीक थे। इस प्रकार इन लोगों ने एक कठिन प्रतिज्ञा (Solemn promise) को तोड़ दिया। इससे गांधी जी तथा दूसरों को बहुत चोट पहुँची। गांधी जी ने खुले अधिवेशन में समझौते के प्रस्ताव को रखते हुए कड़े शब्दों में अपने भावों को प्रदर्शित करते हुए कहा, 'तुम लोग मुसलमान जैसे अल्ला की रट लगाते हैं या हिन्दू जैसे राम राम या कृष्ण कृष्ण करते हैं, उस तरह से पूर्ण स्वतंत्रता की रट लगा सकते हो, पर इस प्रकार की रट बिलकुल व्यर्थ होगी यदि इसके पीछे मर्यादा की भावना न हो। यदि तुम अपने शब्दों और वादों पर नहीं डटते हो, तो स्वतंत्रता रहेगी तो किस पर रहेगी ? स्वतंत्रता इससे कहीं कठिन उपादान से बना है। शाब्दिक कलेबाजी से स्वतंत्रता से कोई सम्बन्ध नहीं।' अवश्य ही गांधी जी का प्रस्ताव अत्यधिक वोटों से पास हुआ।

यह डांट बहुत ही कड़ी थी, पर फिर भी न तो गांधी जी ने और न उनके किसी शिष्य ने इन उपादानों को कांग्रेस से बाहर कर देने की बात नहीं कही। ऐसा करने में उन्होंने ठीक ही किया, यह कांग्रेस के बाद के इतिहास से साबित है।

कम्युनिस्ट पार्टी के लोगों को निकालना ठीक

अवश्य १९४२ में कथित कम्युनिस्टों ने जो गद्दारी की और उसके फलस्वरूप वे कांग्रेस से निकाल दिये गये यह ठीक ही रहा। बात यह है इन लोगों की गुटबन्दी यहीं तक नहीं रही कि ये इमान-

दारी के साथ संगठित रूप से किसी मामले में मतभेद रक्खे। ये लोग तो बिलकुल कांग्रेस के मौलिक सिद्धान्त के ही विरोधी हो गये। कांग्रेस यदि कुछ है तो एक साम्राज्यवाद विरोधी संस्था है और दिन-ब-दिन इसका यह चरित्र अधिक स्पष्ट होता गया है। यह चरित्र १९४२ में सब से अधिक स्पष्ट हुआ, जब इसने उपकूल के किनारे जहाजरानी छोड़ कर अपने जहाज को क्रांति के महासागर में डाल दिया। कम्युनिस्टों ने ऐसी परम परीक्षा के समय में कांग्रेस के जहाज पर टारपेडो चला दिया। स्वभाविक रूप से ऐसे लोगों को निकालना जरूरी था। यह तो एक सफाई की जरूरत थी। इस सम्बन्ध में भी यह स्मरण रहे कि पार्टी रूप में किसी को नहीं निकाला गया, बल्कि १९४२ के गद्दारों को व्यक्तिगत रूप से निकाल दिया गया है। यदि कथित कम्युनिस्ट पार्टी अपना दोष स्वीकार कर ले, इस गद्दारी के जमाने में प्रकाशित अपने सारे साहित्य को वापस कर ले, उन नेताओं को निकाल बाहर करें जिन्होंने ऐसे संकट समय में पार्टी को गुमराह कर उससे गद्दारी कारवाई, फिर से अपना तथा इस बीच के देश के इतिहास को लिखे और फिर साम्राज्यवाद विरोधी हो जाय, तो मैं समझता हूँ कि इन्हें कांग्रेस में वापस ले लेना कठिन नहीं होना चाहिये। स्वतंत्र देशों में तो देशद्रोहिता की जबर्दस्त सजा दी जाती है, मैं तो यही कह रहा हूँ कि ये लोग इमानदारी से पश्चात्ताप करें बस।

क्या कम्युनिस्ट लौटेगें ?

इस प्रकार यदि ये इमानदारी के साथ प्रश्चाताप कर कांग्रेस में लौट आवे, तो उससे कांग्रेस की ताकत बढ़ेगी न कि घटेगी। पर शायद मैं ऐसी बात की आशा तथा पैरवी कर रहा हूँ जो हो नहीं सकती और मेरी सलाह शायद अनसुनी कर दी जायगी क्योंकि कम्युनिस्ट पार्टी एक भॅवर में पड़कर प्रतिदिन नई गलतियों के बोझ से

नीचे की हो ओर जा रही है। वर्तमान समय के लिये तो यही समझना चाहिये कि कथित कम्युनिस्ट पार्टी प्रगति के शिविर के लिये खो चुकी हाँ, कोई जादू हो जाय तो कहा नहीं जा सकता, पर कोई जादू होता तो नहीं दीखता। किसी भी हालत में यह तो कहा ही जा सकता है कि एक संग्राम की अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण हुये बिना तथा उसके जरिये से शुद्ध हुये बिना कथित कम्युनिस्ट पार्टी का भला नहीं होगा। बल्कि लक्षण तो इसी के हैं कि इसका पतन होते-होते यह जनसंस्था के रूप में शून्य के मूल्य तक पहुँच जायगा।

समाजवादी और फारवर्डब्लाकी बराबर साम्राज्यवाद विरोधी

कांग्रेस समाजवादी दल तथा फारवर्ड ब्लाक की उत्पत्ति विभिन्न कांग्रेस के ही अन्दर गान्धीवादी गुट के प्रति असन्तुष्ट होकर ही हुई। गान्धीवादी दबावमूलक राजनीति की दृष्टि से ये दल विभिन्न अंश की वामपन्थी च्युति (Left deviation) का प्रतिनिधित्व करते हैं। यहाँ पर मैं इन दलों के प्रगतिशील हिस्सों के सम्बन्ध में ब्यौरेवार विचार नहीं करूँगा। हमारे वर्तमान विषय के लिये इतना ही कहना यथेष्ट है कि इन दलों ने किसी भी मौके पर अपने साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र को क्षरण नहीं होने दिया।

आर० एस० पी० भी क्रान्तिकारी

१९४२ की क्रान्ति के युग में ये पार्टियाँ आर० एस० पी० ऐसी पार्टियों के साथ क्रान्ति के पुरोभाग में रही। कांग्रेस समाजवादी दल ने एक अलग दल की हैसियत से नहीं बल्कि कांग्रेस के बचे-खुचे हिस्से के रूप में देर तक १९४२ की क्रान्ति के यज्ञकुण्ड को प्रज्वलित रक्खा। जहाँ तक बहुप्रशंसित 'आफिसियल कांग्रेसजनों' की संस्था की बात है, वहां तक उनकी तो हालत यह रही कि कुछ साम्राज्यवाद के प्रथम वार से ही वह छिन्न-भिन्न हो गई।

गान्धीवाद की दलबन्दी छिपी रहती है

श्री शंकरराव देव ऐसे सज्जन जब यह कहते हैं कि कांग्रेस को शुद्ध कर उसे गान्धी सेवा-संघ, चर्खा संघ और इस तरह के अन्य दलों की तरह (जो देखने में तो राजनीति के प्रति उदासीन हैं, पर कांग्रेस में जिनका बहुत भारी स्थिर स्वार्थ है) संगठित किया जाय, तो उनके मानस पर कांग्रेस समाजवादी दल को निकालने की बात सर्वोपरि है। स्वाभाविक रूप से गान्धीवादी दल को (मैं इसे गांधीवादी दल के बजाय दबाव राजनीति का दल कहना अधिक पसन्द करूगा क्योंकि इस गुट में अधिकतर लोग ऐसे हैं जो गान्धीवाद में कतई विश्वास नहीं करते, पर किसी न किसी कारण से उसके साथ रहना पसन्द करते हैं) जिसकी कांग्रेस के अन्दर बहुसंख्या है, अपने को एक पृथक दल के रूप में संगठित करने की जरूरत नहीं। इस प्रकार उनकी दलबन्दी छिपी रहती है। फिर भी कई बार संकट के समय इनकी दलबन्दी की कलई खुलकर रहती है।

गान्धी सेवा-संघ, 'सीतारमैया की हार मेरी हार'

जिस समय सुभाष बाबू दूसरी बार राष्ट्रपति चुने गये, उस समय गान्धी सेवा-संघ की कुछ गश्ती चिट्ठियाँ रोशनी में आईं जिससे ज्ञात हो गया कि पार्टीबाजी केवल दूसरों के ही हिस्से की चीज़ नहीं है। राष्ट्रपति के निर्वाचन में गान्धी सेवा-संघ के कुछ सदस्यो ने स्वतन्त्रता-पूर्वक वोट दिये थे। वे बेचारे यह समझते थे कि सुभाष बाबू तथा पट्टाभी दोनों अच्छे कांग्रेसी हैं, इसलिये प्रत्येक वोटर को यह स्वतन्त्रता है कि जिसे जी चाहे वोट दे। इसलिये इनमें से कुछ ने श्री बोस को वोट दिया था क्योंकि उनकी निगाह में दोनों उम्मीदवारों में वे ही योग्यतर थे।

राष्ट्रपति के निर्वाचन के बाद यह बात खुली। फिर तो संघ के गश्ती पत्र चल पड़े और यहाँ तक कि गान्धी जी ने वह परमाश्चर्य-

कर बयान दिया 'पट्टाभी की हार मेरी हार है'। इस प्रकार गांन्धी सेवा-संघ के सदस्य सिर पर एक गहरा धक्का खाकर अपनी लोकतांत्रिक नींद से जग पड़े। अब लोगों को यह बात समझ में आ गई कि कांग्रेस में कुछ आदमी ऐसे हैं जो गान्धी जी के आदमी हैं और दूसरे जिनमें सुभाष बाबू भी थे उनके आदमी नहीं थे।

एक दल का अर्थ दबाव राजनीति का दल

इसलिये कांग्रेस को एक दल के रूप में संगठित करने का अर्थ यह है कि इसका संगठन दबावमूलक राजनीति के दल के रूप में संगठन हो। १९४२ की क्रान्ति के बाद यह नारा विशेष कर दिया गया इसलिये इसका अर्थ और भी स्पष्ट हो जाता है। यह साफ हो जाता है कि इस प्रकार नारा देनेवाले लोग कांग्रेस को दबावमूलक राजनीति की लीक से बाहर नहीं ले जाना चाहते। वे यह डरते हैं कि यह क्रान्तिकारी विचार वाले लोग कांग्रेस के अन्दर रहने दिये गये, तो वे कहीं कांग्रेसजनों को समझा-बुझाकर दूसरे ढङ्गों पर लगा न दें और कांग्रेस को अपनी रोशनी के अनुसार इस्तेमाल न करने लगे। इस प्रकार 'एक दल, एक नेता' नारे का प्रतिक्रान्तिकारी मतलब और प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। कांग्रेस ने अपने घटनाबहुल जीवन में विष (Tosein) तथा प्रतिविष (anti-tosein) पैदा किये हैं, केवल विषों को ही बढ़ने देना तथा प्रतिविषों को रोक देना आत्मघात के तुल्य होगा। इस प्रकार करने से जनता के संग्रामशील अवयव (organ) के रूप में कांग्रेस की मृत्यु हो जायगी।

गान्धी जी का दल तैयार है

अवश्य ही यह प्रवृत्ति कोई नई प्रवृत्ति नहीं है। किसी न किसी रूप में यह प्रवृत्ति बराबर रही है। गांधी जी के विषय में कुछ भी कहा जाय वे एक दूर दृष्टि-सम्पन्न नेता है और उन्होंने पहले ही से सम्भव दुर्दिन के लिये तैयारी कर रक्खी है। यदि बुरा से बुरा समय आ जाय तो

गान्धी जी और पटेल गांधी सेवा संघ, चर्खा संघ, ग्रामोद्योग संघ की शरण में जा सकते हैं। यद्यपि ये संस्थायें ऊपर से राजनीति में संलग्न नहीं हैं, फिर भी उनको रात भर में मिलाकर एक ऐसी सुसंगठित संस्था में परिणत किया जा सकता है जिसकी शाखाये भारत भर में फैली होगी।

पर वामपक्षी अथाह समुद्र में

पर मुसीबत तो दूसरों की है जो १९४२ की परम्परा के प्रति सच्चा रहना चाहते हैं। वे यदि कांग्रेस से निकाल दिये गये, तो उनके लिये अथाह समुद्र ही है। यह कोई अच्छी बात नही। इस परिस्थिति के सम्बन्ध में उन क्रान्तिकारी उपादानों को सोच लेना चाहिये कि यदि ऐसी परिस्थिति आ गई तो वे कहां बैठेगे ? यदि वामपक्षी अपने को असहाय पाते हैं तो इसके लिये दबावमूलक राजनीति वालों को कैसे दोष दिया जाय।

The fault dear Brutus is not in our stars
But in ourselves.

वामपक्ष की कमजोरी का कारण

यह जो वामपक्षगण कांग्रेस से स्वतन्त्र रूप से सीधे-सीधे जनता तक नहीं पहुँच सकते, इससे यही बात प्रतिफलित होती है कि अब तक वामपक्ष उन्हीं तबकों पर निर्भर रहा है जो गांधीवाद के भी समर्थक तथा आधार है। इसी कारण बारबार भारतीय वामपक्ष को दक्षिणपक्ष के सामने घुटना टेक देना पड़ा है और उन्हें इस बात के लिये मजबूर किया है कि वे दक्षिणपक्षियो के इच्छुक अथवा अनिच्छुक शिविर-अनुचर रहें। जब तक कि वामपक्ष अपने आधार के रूप में सब से क्रान्तिकारी सर्वहारावर्ग को तथा उसके मित्र निम्न किसान-वर्ग को नहीं ले पाता तब तक यह हमेशा दक्षिणपक्ष की पूँछ मे बंधे रहने के लिये बाध्य होगा। इस नातिसुखकर परिस्थिति से छुट-

कारा पाने के लिये यह जरूरी है कि स्वतंत्र रूप से मेहनतकश जनता तक पहुँचा जाय, और उन्हें 'मेहनतकश जनता के हाथों में सारी ताकत' तथा 'उनके देशी तथा विदेशी शोषकों' का नारों के मातहत गतिशील किया जाय।

प्रतिक्रान्ति सजग, पर क्रान्ति भी

गांधी जी ने १९४२ की निन्दा से जिस प्रतिक्रान्ति का सूत्रपात किया है स्वभाविक रूप से उसने न्यूनतम प्रतिरोध (Least resistancee) का मार्ग ग्रहण किया है। यह नहीं मालूम है कि वामपक्ष पर ब्लिटज या बिजली की तरह आक्रमण किया जा रहा है, उसे उसके तार्किक उपसंहार तक ले जाया जायगा भी या नहीं। यह अभी चुहचाप अपनी ताकत को तथा क्रांति की ताकत को कूत रहा है—वह क्रांति जो सामरिक रूप से पीछे हट गई है। क्रांति भी इसी प्रकार बीच-बीच में अपनी ताकत को कूत रही है और अपने आश्रय-स्थान से निकल-निकल कर जमीन के पोढ़ेपन को कूत रही है।

पाँचवा अध्याय

धूर्त प्रतिक्रान्ति, इधर नरम समाजवाद

यद्यपि सभी प्रतिक्रया या प्रतिक्रातियाँ मौलिक रूप से वही है, फिर भी क्रांति की शक्ति तथा अपनी शक्ति, जनता का पिछड़ापन या प्रगतिशीलता किन नारों के द्वारा जनता को आसानी से गुमराह किया

जा सकता है इत्यादि बातों के अनुसार प्रतिक्रांतियाँ विभिन्न रूप धारण करती है।

क्रान्ति के मूल्यों के नष्टीकरण से प्रतिक्रान्ति का प्रारम्भ

सभी प्रतिक्रांतियाँ इस बात से शुरू करती हैं कि क्रांति ने जो नये मूल्य पैदा किये हैं वह सब से पहले उनको बिगाड़ने में संलग्न हो जाती है। प्रतिक्रांति अपने कर्तव्यों को अंजाम देने के लिये ही ऐसा करती है। इस प्रकार यह सोते को विषाक्त करके ही अपना काम शुरू करता है। गांधी ने राजनारायण, महेन्द्र चौधरी आदि क्रांति के द्वारा पैदा की हुई नई मानवता की पीठ में छुरी भोंकने के रूप में इनके कृत्यों की निन्दा की तो इसका उद्देश्य यह था कि क्रांति को उसकी नैतिक ज्योति से वञ्चित किया जाय। अपनी जिद में गांधी जी सदाचार की अपनी पुरानी धारणा पर डटे रहे। उन्होंने १९४२ द्वारा प्रवर्तित उच्चतर सदाचार को स्वीकार नहीं किया।

प्रतिक्रान्ति से सीधा हमला नहीं

फिर भी अहिंसा के इस परम साहसी जेहादकारी गांधी जी को यह साहस नहीं हुआ कि वे १९४२ पर सीधे-सीधे आक्रमण करें। उन्होंने बारबार १९४२ की क्रांति के लोगों के साहस की प्रशंसा की, पर तोड़फोड़ की निन्दा की। उन्होंने फरारों से यह सलाह दी कि वे आत्मसमर्पण कर दे यद्यपि उन्होंने ही हरिजन (९ जुलाई, १९४२) में कहा था कि आगामी संग्राम में 'माँगकर गिरफ्तार होने का कोई स्थान नहीं है, यह बहुत ही नरम चीज है।' यदि गांधी जी अपने अहिंसा सम्बन्धी विचारों में तार्किक उपसंहार तक जाते तो उन्हें चाहिये था कि सीधे-सीधे राजनारायण, महेन्द्र चौधरी इत्यादि की निन्दा करते। पर उन्होंने ऐसा करने का साहस नहीं किया। बात यह है कि अहिंसा के एक पैगम्बर होने के अतिरिक्त वे एक राजनीतिज्ञ भी हैं और उन्हें यह साहस नहीं हुआ कि जनता की इन शहीदों

सम्बन्धी पूजक की भावनाओं के विरुद्ध जायें। भगत सिंह तथा अन्य ऐसे शहीदों के सम्बन्ध में जो कांग्रेस के बाहर के शहीद थे, गांधी जी ने अधिक साहस का परिचय देकर उनका खुल्लमखुल्ला तिरस्कार किया था। पर अबकी बार वे इतना साहस नहीं दिखा सके। क्या यह बात सही नहीं है कि राजनारायण, महेन्द्र चौधरी तथा १९४२ के अन्य दंडित वीरगण उन तोड़फोड़ आदि कार्यों में सीधे-सीधे लिप्त थे, जो गांधी जी की काली सूची में आ जाते हैं?

१९२९में वायसरायपर हमलेके अवसरपर गान्धीजी का साहस

१९२९ में जिस समय चन्द्रशेखर आजाद तथा उनके अनुयायियों ने वायसराय की गाड़ी को करीब-करीब उड़ा दिया था, उस समय अहिंसा के पैगम्बर को अधिक साहस था। इस अवसर पर कांग्रेस ने वायसराय की गाड़ी पर बम द्वारा किये गये आक्रमण पर अफसोस जाहिर किया था। और यह कहा था कि, "ऐसे कृत्य न केवल कांग्रेस के लक्ष्य के बिरोधी हैं, बल्कि इससे राष्ट्र को हानि पहुँचती है।" गांधी जी केवल उस कृत्य की निन्दा करके ही चुप नहीं रहे (यह द्रष्टव्य है कि इस प्रस्ताव में जैसा कि अक्सर ऐसे अवसरों पर रहता है बहादुरी आदि की कोई तारीफ नहीं थी) बल्कि कार्यसमिति ने अधिक जोश दिखलाते हुए "वायसरायस, लेडी इर्विन, इनके साथी तथा गरीब नौकरों को बाल-बाल बच जाने पर बधाई दी।" चलते हुए यह बता दिया जाय कि यह प्रस्ताव बड़ी मुश्किलों से पास हुआ था। "प्रतिनिधियों के एक हिस्से ने इस प्रस्ताव का तगड़े से विरोध किया और बहुत कम वोटों से ही यह प्रस्ताव गिरने से बच गया था।"

गान्धीवाद में साहस का अब अभाव

जिस प्रकार गांधी जी ने कोशिश कराकर १९२९ में 'बम द्वारा वायसराय पर आक्रमण' की निन्दा करवाई थी, उसी प्रकार गांधी जी

को चाहिये था कि वे 'सत्साहस' दिखाकर राजनारायण इत्यादि के एक एक कृत्यों का जैसे जिलेदार की हत्या आदि की निन्दा करते। पर नहीं, इन क्षेत्रों में अहिंसा के अनन्य पुजारी चूक गये! क्या यह फर्क इस बात को हृदयंगम करने के कारण था कि उन्होंने जिस वातावरण को तैयार किया था उसी में यह क्रान्तिकारी आँधी फट पड़ी। इस कारण उनके विवेक ने उन्हें ऐसा करने नहीं दिया क्योंकि आखिर ये लोग इसी वातावरण के शिकार ही तो थे और ये लोग समझ नहीं पाये थे कि यह तो महज पैंतरेबाजी थी क्रांति करना कतई अभीष्ट नहीं था या बात यह था कि इस बीच में अहिंसा पर उनका विश्वास घट गया था? फिर यह फर्क क्यों? नहीं, दबावमूलक राजनीति में इनका विश्वास कतई नहीं घटा था। बात यह थी कि एक जनमनोविशेषज्ञ होने के नाते वे नये वीरों पर सीधा हमला नहीं करना चाहते थे और यही गांधीवाद का काल होने जा रहा है।

दबावराजनीति के सामाजिक मूल्य में कमी, तभी साहसाभाव

इस प्रकार जनता की भावनाओं पर ठेस न पहुँचाने का जो प्रलोभन है, यह जो जनता के वीरों का सामना हो जाने पर मैं-मैं और स्पष्टवादिता का अभाव है, यह जो जनता की भावनाओं के प्रति रियायत हैं, यह महज एक चालाकी समझी जा सकती हैं कि आँधी बह जाय फिर काम में लगा जायगा, पर यह जो अहिंसात्मक साहस में अभाव हो रहा है, यह दबाव राजनीति के घटते हुए सामाजिक मूल्य को भी सूचित करता है। यह जो साहसाभाव तथा मैं-मैं पन है, यह भी अपनी जगह पर सामाजिक कर्तव्यों को अंजाम दे रहे हैं।

जनता गान्धी जी की खामख्यालियों के प्रति उदासीन

यह बात सच है कि १९४२ क्रांति से जो नये मूल्य पैदा हुए हैं, उनकी गांधी जी ने जो समालोचना की है, उसका कोई विशेष विरोध

नहीं हुआ, पर इससे यह न समझा जाय कि जनता ने उनको स्वीकार कर लिया है। उन्होंने स्वीकार नहीं किया। इस विषय में गाँधी जी के उद्‌गारों को एक श्रद्धेय वृद्ध की एक खामख्याली के प्रति रियायत के रूप में लिया गया है तथा सहन किया गया है। यहीं से गाँधी जी का विचार [illegible] की सम्भावना है। वे अब भी जनता के पूजित रहेंगे, बल्कि अब अपने निर्दोष क्रुद्ध उद्‌गारों के कारण वे शायद जनता के अधिक प्यारे हो जायँ, पर उनके उपदेशों को कोई न सुनेगा।

आजाद हिन्द फौज ने १९४२ के मूल्यों को जोर पहुँचाया

इस बीच में रङ्ग-मंच में और भी नये वीर पधारे हैं, ये वीर हैं आजाद हिन्द फौज के वीर। इन्होंने १९४२ की क्राँति के मूल्यों को और भी बल पहुँचा दिया। ये वीर पौराणिक वीर नहीं हैं। ये जीते-जागते ऐसे मनुष्य हैं जिन्होंने टैंक और हवाई जहाजों से लड़ाई की है। इस प्रकार १९४२ के वीरों में कोई ५०००० व्यक्तियों की वृद्धि हुई, जो आसमुद्र हिमाचल सर्वत्र फैले हुए हैं और जो नेता जी का गुणगान करते फिर रहे हैं।

प्रतिक्रांति शाब्दिक क्षेत्र में ही विजय से तुष्ट नहीं

अवश्य यहीं पर प्रतिक्राँति ठहरने नहीं जा रही है। वह जानती है कि क्राँति को केवल शाब्दिक तथा दार्शनिक क्षेत्र में हराना यथेष्ट नहीं है। इस लिये इसने इस बात की भी व्यवस्था की है कि कांग्रेस संगठन की झाड़फूँक कर उसमें से क्राँति की चुड़ैल को निकाल बाहर किया जाय। सब से बड़े ओझा स्वयं गाँधी जी बुढ़ापा तथा गिरते हुए स्वास्थ्य के बजाय स्वयं हाथ में गोबर तथा गंगाजल लेकर इस चुड़ैल का पीछा देश के कोने कोने में कर रहे हैं। १९४२ की ऐसी व्याख्या की जा रही है जो जनता के लिये कोई प्रशंसा की बात नहीं है। १९४२ की क्राँति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में गुस्सा और क्रोध

वाला सिद्धान्त जोरों के साथ डंके की चोट पर इस हिटलरी आशा में कहा जा रहा है कि यदि एक झूठ को हजार दफे कहा जाय तो वह वास्तविक सत्य हो जायगा। श्री शंकरराव देव ऐसे लोग '१९४२ की क्रांति सी० एस० पी० ने कराई' यह कह रहे हैं। उनका कहना तो साफ है कि 'इन विदेशी तत्वों को निकाल बाहर करो।' इनका कहना है कि एक बार इन तत्वों को निकाल बाहर किया कि बस चिरशान्ति का साम्राज्य हो जायगा है।

असली 'मुजरिम' जनता, न कि कोई एक दल

पर प्रतिक्राँति असली दोषी को छोड़ कर बात कर रही है। असली 'मुजरिम' तो जनता है। क्या उन्हें झाड़फूंक कर काँग्रेस से बाहर किया जा सकता है? क्या बिनोवा भावे, मशरूवाला, जाजु तथा कालेलकरगण कुछ खुशामदियों तथा बुद्धिहीन लोगों से कांग्रेस चला लेंगे! क्या जनता को उनके वीरों राजनारायणों, शाहनवाजों तथा सुभाषों से वंचित किया जा सकता है?

जनता क्रांतिकारी हो चुकी है

इस प्रकार जिस भी दृष्टि से देखा जाय प्रगतिशील विचारों तथा तरीकों की जययात्रा को रोका नहीं जा सकता। गाँधी जी और उच्च नेताशाही अपने अहिंसा वाले आधिदैविक सिद्धान्त के तार्किक उपसंहार तक जाने से इनकार कर रही है, यह बात गुल खिला कर अपने ऐतिहासिक कर्तव्य को पूर्ण करेगी। जनता उनके ख्यालों की अवहेलना कर आगे उस प्रकार से इतिहास का निर्माण करने चल पड़ेगी। जो प्रकार की उनके दिमागों पर अच्छी तरह बैठ गया है। अवश्य प्रतिक्राँति इस बात का प्रयास करेगी कि काँग्रेस पर उनका एकाधिकार हो जाय, दूसरे निकाल दिये जायँ या चुप करा दिये जायँ जो उनको अपने मत में लाने के ही समतुल्य हुआ तथा इस प्रकार इसकी व्यवस्था की जाय कि आगे कभी क्राँति उभड़ न सके। आखिर

तक १९४२ के मूल्य को समझने वाली जनता का ही यह कर्तव्य है कि किसी भी दाम पर प्रतिक्रांति की इस अग्रगति को रोके।

समाजवाद की अजीब धारणा

प्रतिक्रांति की तो यह हालत है। उधर जैसा कि नेशनल हेरल्ड (६-२ ४६) की रिपोर्ट से ज्ञात है मजदूर कांग्रेस के भूतपूर्व सभापति तथा कांग्रेस समाजवादी दल की कार्यकारिणी के सदस्य श्री हरिहर-नाथ जी शास्त्री ने कहा कि 'जिस-जिस मौके पर कां० स० दल और कांग्रेस में मौलिक मतभेद पैदा हुए, उस-उस मौके पर समाज वादी दल ने हमेशा घुटना टेक दिया (Yield)। मैं समझता हूँ इस कथन से कोई समाजवादी दल का गौरव नहीं बढ़ाया। ऐसी हालत मे प्रश्न उठता है कि समाजवादी दल रहे ही क्यो ? सौभाग्य से जो श्री शास्त्री कहते हैं न तो कांग्रेस समाजवादी दल में ही और न उसके बाहर ही समाजवाद सम्बन्धी एकमात्र मत है।

समाजवादी डरें क्यों ?

मैं नहीं समझता हूँ कि समाजवादी तथा वामपक्षीगण जो यह समझते हैं कि दबावमूलक राजनीति ही राजनैतिक तरीके मे अन्तिम शब्द नही है, वे भला हर समय यह ख्याल क्यों दिलाते हैं कि वे अपने समाजवाद के लिये लज्जित हैं, उसके लिये निरन्तर माफी-से माँग रहे हैं और इस बात के लिये जी तोड़ परिश्रम कर रहें हैं कि कांग्रेस-जन तथा दक्षिणपंथी उनको सख्ती मे न देखें। यदि ऐसे लोगों को किसी सम्बन्ध में चेष्टित रहना चाहिये कि वे सामाजिक शक्तियों के क्रांति की सब से बड़ी शक्ति मेहनतकश जनता के साथ हैं, बाकी बातों की उन्हें परवाह नहीं होनी चाहिये हमें यह समझ मेंन हीं आता कि ये लोग मार्क्स और लेनिन का नाम लेते कांपते क्यों हैं और क्यों मार्क्सवाद में, जिस सिद्धान्त को मेहनतकश जनता ने अपने शोषकों के साथ संग्राम करने के दौरान में विकसित किया है, अपना विश्वास

व्यक्त करने में घबड़ाते हैं ?

यह दुरंगा समाजवाद कैसा ?

बर्नार्ड शा ने एकबार कहा था कि शैतान ने मानवजाति को हल्की इसाईयत का एक इंजेक्शन दे दिया जिसमे वह उसके प्रबल हमले से बचे रहे। इसी प्रकार मालूम होता है इन समाजवादी दलों ने अपनों को समाजवाद का एक हल्का-सा इंजेक्शन दे रक्खा है जिसमे वे असली समाजवाद से बरी रहें। बात यह है असली समाजवाद तो एक ऐसी वस्तु है, जो कभी भी परोपजीवियों तथा उनके गुर्गों को रुच नहीं सकती। यह ठीक न होगा कि दो तरफ खिचाव हो, एक मार्क्सवाद की ओर दूसरा नरम-नरम शरीफ उदारपंथ (Goody-goody liberalism) की तरफ। प्रतिक्रांति चीज को एक तरफ लगाकर छोड़ेगी।

बहुत से समाजवादी परीक्षा में उत्तीर्ण न होंगे

मुझे सन्देह है कि आज के सब समाजवादी इस परीक्षा से विजयी होकर उत्तीर्ण भी हो सकेंगे या नहीं। समाजवादियों को या तो ऊपर की तरफ या नीचे की तरफ सरपट जाना ही है, कुछ सम्भावनायें ऐसी हैं कि वे नीचे की ही तरफ जायेंगे, पर मुझे यह भी विश्वास है कि बहुत से समाजवादी इस कठिन अग्नि परीक्षा को उत्तीर्ण कर जायेंगे। अवश्य ही मार्क्सवाद कोई कटमुल्ला सिद्धान्त नहीं है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि समाजवादी दलों को भरने की सनक में इन दलों में ऐसे सब लोग भरे जायँ जिनका समाजवाद नरम यहाँ तक कि संदिग्ध है। समाजवादी दलो की यह उच्चाकांक्षा क्यों हो कि वे कांग्रेस के पुछल्ले बन कर चले और जब पुछल्ला न बनें तो कभी-कभी कुछ चक्कर काट जायँ ताकि लोगों पर जाहिर न हो पावे कि वे पुछल्ला मात्र हैं।

बहुत से समाजवादी भगोड़ा निकलेंगे

यह जो समाजवाद के प्रति नरम भक्ति है, यह जो हर बिन्दु पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद से सबक लेने मे डर है, यह जो नरम शरीफ उदारवादी तरीके से अपने को स्वतंत्र दिखाने की प्रवृत्ति है. यह सब क्या है ? इनसे हमें छुटकारा पाना ही होगा। अवश्य जैसा कि मैं बार-बार कह चुका जब तक समाजवादीगण वर्तमान समय की तरह केवल पढ़े-लिखे वर्ग पर आधार रूप में निर्भर करें, तब तक वे जो हैं उससे अधिक अच्छे हो चुके। बहुत से लोग जो आज समाज-वादी और वामपक्षी रूप में चल रहे हैं, सम्भव है प्रतिक्रांति का दबाव अधिक पड़ते ही वे दूसरी तरफ भाग जाय, पर इससे सच्चे और ईमानदार समाजवादी को न तो डरना ही चाहिये और न उसे यह चाहिये कि वह अपने सिद्धान्त में कुछ समझौता मान ले। समाजवादी कोई पिस्तौल के घोड़े की तरह तना हुआ हेकड़ नहीं है और न वह आधिदैविक अहिंसा सिद्धान्त की बुतपरस्ती करने वाला ही है। किसी भी हालत में वह हिंसा या अहिंसा किसी की बुतपरस्ती नहीं कर सकता। साधनो के निर्णय में शत्रु के तरीकों को ध्यान में रखना पड़ेगा। संग्राम से ही साधन का निर्णय होगा। यदि हमारे सदाचार से शोषक को लाभ हुआ, तो यह स्पष्ट है कि हमें उसी प्रकार उस सदाचार का पल्ला छोड़ा देना चाहिये जैसे डूबते हुए जहाज को चूहे छोड़ देते हैं। क्रांतिकारी रणनीति में एकतरफा आत्मत्याग तथा किसी आधिदैविक सिद्धान्त की बुतपरस्ती का स्थान नहीं।

छठा अध्याय

कांग्रेस के किसान-मजदूर-राज नारे का विश्लेषण

केवल साधन की भिन्नता या त्याग से क्रान्तिकारी नहीं

फिर साधन से ही क्रान्तिकारी की पहचान नहीं है, न केवल त्याग से ही जाना जाता है कि कौन सुधारवादी और कौन क्रान्तिकारी हैं। रोम्याँ रलाँ ने कहा है (Le sacrifice est bien quand on comprend pourquoi) त्याग तभी अच्छा है जब हम जाने कि क्यों ? इस क्यों को बगैर जाने त्याग का मूल्य सम्भव है एक छदाम भी न हो। इसलिये साधन के ज्ञान के साथ-साथ तथा त्याग की तत्परता के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि इस बात को समझा जाय कि वह कौन सा उद्देश्य है जिसके लिये त्याग किया जाय। नहीं तो सारी कुर्बानियों के बावजूद कोई भी व्यक्ति फासिवादी तथा साम्प्रदायिकतावादी हो सकता है।

जनता का लक्ष्य के सम्बन्ध में सजग होना जरूरी

यदि क्रान्ति आत्मचेतनायुक्त न हो और अपने लक्ष्य को न पहचाने, तो उस हालत में साम्राज्यवाद को चकनाचूर कर देने पर भी वह अपनी विजय से वंचित की जा सकती है। उस हालत में विदेशी साम्राज्यवाद की जगह पर स्वदेशी फासिवाद का राज्य स्थापित हो जाना सम्भव है। इस विपत्ति से बचने का एक ही उपाय है और वह यह है कि मेहतनकश जनता का अधिकाधिक रूप से लड़ाई के घमा-

सान में लाया जाय, पर उन्हें भी ठीक तरह से आत्मचेतन बनाना पड़ेगा ताकि वे खोखला किसान-मजदूर राज्य के नारे के धोखे में न आ जायें जिसको लोग हल्कापन से दे रहे हैं और जिसे लोग बुद्धि-हीनता से सही समझ कर चलने को तैयार है।

कांग्रेस नेताशाही द्वारा किसान-मजदूर-राज का नाश

हाल में कांग्रेस नेताशाही की तरफ से किसान-मजदूर-राज का नारा दिया जाने लगा है। जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूँ कि गान्धीवादी उच्च नेताशाही की यह एक विशेषता रही है कि जब कोई नारा अनिवार्य हो जाता है तब वह स्वयं उसे देने लगती है।

इनक़लाब जिन्दाबाद नारे की दुर्दशा

इसी प्रकार इन्कलाब जिन्दाबाद नारे को जिसको सर्दार भगतसिंह ने दिया था कांग्रेस ने ले लिया और बाद को इस क्रान्तिकारी नारे को नपुंसक बना दिया। दबाव राजनीतिज्ञों के हाथों में पड़कर क्रान्ति का यह युद्धघोष एक गान्धीवादी नारे में तबदील हो गया। सच बात तो यह है कि इसका कुछ अर्थ ही नहीं रह गया और हाँ, इस बात को तो लोगों ने सुविधाजनक रूप से भुला ही दिया कि किसने इस नारे को जन्म दिया था।

नेहरू जी तथा अबुलकलाम आजाद जी द्वारा किसान-मजदूर-राज का नाश

सितम्बर १९४५ में निम्नलिखित खबर अखबारों में प्रकाशित हुई :—

पूना, १६ सितम्बर—जिस समय चाय के लिये कुछ समय के लिये कांग्रेस कार्यसमिति का अधिवेशन स्थगित हुआ, उस समय दूर-दूर से आये हुये किसानों को राष्ट्रपति आजाद तथा पंडित नेहरू ने यह कहा कि भारतीय किसानों के कल्याण तथा किसान-मजदूर-

राज लाने के लिये ही सब कुछ हो रहा है।—यू० पी० आई०

काश इस नारे में सत्यता होती तो

अन्य अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण लोगों ने भी इसी राग को अलापा है। यदि यह नारा सचमुच सही हो सकता, तो मैं सबसे पहले वाम-पक्षियों को यही कहता कि वे अपनी-अपनी डेढ़ ईंट की मसजिदों को तोड़कर इसी में शामिल हो जायँ। कम से कम फिर तो लक्ष्य के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं रहता।

अवश्य नारा के साथ साधन भी ठीक हो

तब तो अधिक से अधिक इसी बात का झगड़ा रहता कि कैसे प्रचारित लक्ष्य को जल्दी से जल्दी प्राप्त किया जाय। अवश्य यह भी एक बड़ा मतभेद होता, क्योंकि एक लक्ष्य की बात कहना, पर सही ढंग से उसके लिये यत्न न करना उतना ही खराब है जितना उस लक्ष्य को लक्ष्य न मानना है। बल्कि यह तो उससे भी खराब है क्योंकि जबानी किसी बात को अपना लक्ष्य बताना, पर फिर भी संग्राम के के तकाजे के अनुसार साधन ग्रहण करने से इनकार करना लोगों के लिये धोखे का कारण हो सकता है और ऐसा करने से ऐसे लोग जो सही रूप से उस लक्ष्य को मानकर चल रहे हैं, उनकी जड़ें काटना होगा।

कांग्रेस का किसान-मजदूर-राज नारा

मैंने यह पहले ही दिखा दिया कि गान्धीवादी दबाव राजनीति के मानने वाले अपने सड़े-गले तरीकों को छोड़ने के लिये तैयार नहीं है। इसका नतीजा यह है कि कल के जो क्रान्तिकारी थे वे आज के प्रतिक्रियावादी हो चुके हैं। इसलिये हमें अब उस विषय में कुछ कहने की जरूरत नहीं है। इसलिये हम यहां केवल इस विषय पर आलोचना करें कि कुछ महत्वपूर्ण कांग्रेस नेताओं ने किसान मजदूर-राज का

जो नारा दे रक्खा है उसकी गहराई कहाँ तक है। स्मरण रहे कि यह नारा इन नेताओं के द्वारा चुपके से याने कांग्रेस के प्रस्तावों के बाहर से दिया जा रहा है। अवश्य यह भी हम बता दें कि यदि यह नारा कांग्रेस के अन्दर से याने उसके किसी प्रस्ताव के द्वारा दिया जाय तो उससे कुछ परिस्थिति बदल जायगी ऐसी बात नहीं। जब तक कि नारे की अन्तर्गत वस्तु बदल नहीं जाती, तब तक कि बदली हुई अन्तर्गत वस्तु के अनुसार साधन तथा संगठन मे उपयुक्त परिवर्तन नही होता, तब तक केवल प्रस्ताव पास करने से कुछ होता-जाता नहीं।

नारे की अन्तर्गत वस्तु ठीक हो तभी नारा ठीक

यदि एक नारे की अन्तर्गत वस्तु ठीक नहीं है तो वह नारा दो कौड़ी का है। फासिवादी तथा नात्सीगण पूँजीवाद के विरुद्ध क्रान्तिकारी नारे देकर शक्ति-आरूढ़ हुये। यद्यपि मार्क्स फासिवादी तथा नात्सियों से परिचित नहीं थे, फिर भी वे जानते थे कि बढ़-बढ़कर नारा देकर मेहनतकश जनता को बेवकूफ बनाया जाता है। उन्होंने अपनी वस्तुवादी और सारयुक्त शैली में लिखा था :—

"जैसा कि वैयक्तिक जीवन में हम इस बात में फरक करते हैं कि एक आदमी अपने विषय में क्या सोचता है और कहता है तथा वह वास्तविक रूप से क्या है और कैसे काम करता है, उसी प्रकार दल या गुट ऐतिहासिक संग्रामों में जो नारे देते हैं तथा उनकी जो वास्तविक धारणायें तथा स्वार्थ है उनमें फरक किया जाना चाहिये।"

कौन, किस वर्ग की ओर से नारा दे रहा है

इसलिये कोई दिया हुआ क्रान्तिकारी नारा कहाँ तक ईमानदारी के साथ दिया गया हैं इस बात को जानने के लिये यह देखना पड़ेगा कि कौन किस वर्ग के पक्ष में इस नारे को दे रहा है। अवश्य ही मिल मालिकों की संस्था मजदूर-किसान के अधिनायकत्व का नारा

नहीं दे सकती और यदि दे तो यह समझना पड़ेगा कि दाल में कुछ काला अवश्य है। सच तो यह है कि इस परिस्थिति में भी यदि कोई उस नारे की सचाई में सन्देह न करे तो यही समझना पड़ेगा कि जनता को सफलता के साथ धोखा दिया जा रहा है। यह एक बहुत मूर्खतापूर्ण बुर्जोआ सूत्र है कि किसी भी हालत में हमें किसी की नीयत पर सन्देह नहीं करना चाहिये। इस प्रकार की बेवकूफी से केवल शोषकों तथा परोपजीवियों को ही फायदा होता है। अवश्य ही कोई भी वर्ग ऐसा नारा नहीं दे सकता जो उसके वर्ग-शत्रु के तर्क में हो। यह एक ऐसी बात है जिस पर कभी विश्वास नहीं किया जा सकता, पर अक्सर शासकवर्ग या होनहार शासकवर्ग ने इस प्रकार की चालाकी भी है जिससे मेहनतकश जनता उसके झंडे के नीचे आ जाय।

फ्रांस और नात्सियों के द्वारा नारेबाजी के उदाहरण

फ्रांस के पूँजीवादी वर्ग ने साम्य, स्वाधीनता तथा भ्रातृत्व का नारा देकर अपने झंडे के नीचे उदीयमान सर्वहारावर्ग को इकट्ठा कर लिया, पर क्रान्ति ने जब सामन्तवादी सरदारों को निकाल बाहर किया तो क्या हुआ ? तब तो साम्य, स्वाधीनता तथा भ्रातृत्व का कहीं पता नहीं लगा। "भ्रातृत्व तभी तक चला जब तक पूँजीवादीवर्ग और सर्वहारा वर्ग का स्वार्थ एक रहा।" फ्रेंच राज्यक्रान्ति के पुराने इतिहास में जाने की जरूरत क्या है ? नात्सियों ने भी तो यही किया। वे भी तो मेहनतकश जनता के कन्धों पर होकर शक्ति आरूढ़ हुए थे, पर एक बार वहाँ पहुँच जाने पर उन्होंने उस सीढ़ी को ही लात मार दिया जिसने उन्हे शक्ति दिलाई। इसलिये नारो को विशेष कर जब कि वे अप्रत्याशित दिशा से आवे बहुत सोच समझकर लेना पड़ेगा। यदि इतिहास हमें कुछ सिखाता है तो यह कि हमें नारो को सन्देह की दृष्टि से देखना चाहिये।

किसान-मजदूर-राज का वास्तविक अर्थ

अब हम किसान-मजदूर-राज नारे की परीक्षा करें कि वह है क्या ? इसका क्या अर्थ है ? तर्क के अनुसार इसका अर्थ यह है कि राष्ट्र तथा उत्पादन के सारे साधन किसान-मजदूरों के होंगे। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि पूँजीपतियों तथा जमींदारों की सारी सम्पत्ति जब्त कर ली जायगी और वर्गों के रूप में उनका खातमा कर दिया जायगा। क्या कांग्रेस के नेताओं द्वारा दिये हुये किसान-मजदूर-राज नारे का यही अर्थ है जो बताया गया। नहीं, बिलकुल नहीं। उनके किसान-मजदूर-राज नारे का अर्थ वर्ग-समन्वय है साथ ही इसका और भी अर्थ यह है कि यह समन्वय सामानों का समन्वय नहीं बल्कि मालिकों और नौकरों का समन्वय है। अवश्य यह कहा जा सकता है कि इस मालिक और नौकर, पूँजीपति और मजदूर के सम्बन्ध को जितना रुचिकर बनाया जा सकता है बनाया जायगा, और शोषक से कहा जायगा कि वह मेहनतकश के पिता के तुल्य हो जायगा। पर इन शुभ-इच्छाओं से कुछ आता-जाता नहीं है। यह ढकोसला इतना स्पष्ट है कि इससे धोखा देना सम्भव नहीं।

किसान-मजदूर-राज का अर्थ मेहनतकश का अधिनायकत्व

किसान-मजदूर-राज का सही अर्थ मेहनतकश जनता का अधिनायकत्व है। मैं जानता हूँ ब्रिटिश उदारवाद (Liberalism) के जो अत्यन्त निर्दय ब्रिटिश साम्राज्यवाद का ऊपरी छिलका है। तत्वावधान में शिक्षा प्राप्त बल्कि उसके द्वारा विषाक्त कानों को बहुत खटकता है। बात यह है कि उदारवाद में पहली शिक्षा यह दी जाती है कि जो चीज जो है, उसे वह मत कहो। अवश्य इस प्रकार बात की असलियत को ढककर जो बात की जाती है, वह शक्ति आरूढ़ के हक में की जाती है।

या तो पूँजीवादी वर्गका अधिनायकत्व या मेहनतकश वर्गका

फिर भी यह तो किसी बात मे छिपाया नहीं जा सकता कि या तो पूँजीवादी वर्ग का अधिनायकत्व हो सकता है या तो मेहनतकश वर्ग का। सब से उदार जो पूँजीवादी सरकारें हैं वे अपने चुनावों तथा पार्लियामेन्टों के बावजूद प्राचीन बुर्जोप समाज की नई नृत्य-पोशाकों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं जैसा कि एंगेल्स ने कहा है या जैसा कि लिबक्नेख्त ने कहा है. 'वे तानाशाही की नग्नता के ढकनेवाले अंजीर के पत्ते' मात्र हैं। बुर्जोप विद्वान भी बहुत दिन पहले से ही इस आशा मे मुक्त हो चुके हैं कि राष्ट्र एक 'पुलिस का आदमी है जो यह देख रहा है कि सब खेल के नियमो को मान कर चलते हैं कि नहीं।' राष्ट्र शासक वर्ग की कार्यकारिणी मात्र है। अवश्य इस संस्था को कार्य संस्था का मालिकवर्ग सौंपता है, उसके अनुसार यह उस वर्ग के हित के लिये यह ढकोसला रचने की चेष्टा करती है कि यह एक पक्षपातहीन संस्था है जो सब के हितों का ख्याल रखती है और उनका दमन करती है जो खेल के नियमों को न मान-कर खेल में जीतने की चेष्टा करता है।

फासिवाद पूँजीवादियों का सामरिक अधिनायकत्व

पर पक्षपातहीनता की कलाई उसी क्षण खुल जाती है ज्यों ही शासकवर्ग का कोई भी स्वार्थ मुहूर्त भर के लिये खतरे में पड़ जाता है। सच तो यह है कि फासिवाद पूँजीवाद के अधिनायकत्व का का सामरिक रूप मात्र है। जब पूँजीवाद यह देख लेता है कि किसी न किसी कारण से यह अपनी पक्षपातहीनता के ढोंग को कायम रखने में असमर्थ है, जब यह देखता है कि पार्लियामेन्ट वफादारी के साथ हुक्म नहीं मान रही है तब यह एक सामरिक अधिनायकत्व के रूप में अपने खूनी पंजे को प्रकट करता है।

वर्गसमन्वय केवल धोखा

इसलिये शासक तथा शासित, पूँजीपति तथा मजदूर, जमींदार तथा किसान के समन्वय वाला विचार शरारत से भरा है क्योंकि यह मेहनतकश जनता को बेखबर कर सुला देता है। मैं फिर इस बात को साफ कर देना चाहता हूँ कि किसान-मजदूर-राज का नारा वास्तविक तभी हो सकता है जब इससे किसान-मजदूरों के अधिनायकत्व का अर्थ लिया जाय न कि धनियों का ट्रस्टीत्व और वर्गसमन्वय जो केवल शोषकों के ही हक में हो सकते हैं।

वर्गसमन्वय सिद्धान्त गांधी जी के पहले था

यह न समझा जाय कि वर्ग-समन्वय का सिद्धान्त कोई गाँधी जी के दिमाग की उपज है। नहीं, बिल्कुल नहीं। यह सिद्धान्त बाबा आदम के, कम से कम जितने पुराने वर्ग हैं उतने पुराने हैं। केवल एक यों ही उदाहरण लिया जाय तो फ्रेञ्च कवि लामार्तिन यह समझते थे कि वर्गों के बीच जो मनमुटाव है 'वह एक (Malentendu) या गलतफहमी के कारण है। उनका कहना था कि इसकी दवा भ्रातृत्व का प्रचार है।

मार्क्स-एंगेल्स द्वारा वर्गसमन्वय सिद्धान्त की निन्दा

गाँधी जी के बहुत पहले ही मार्क्स-एंगेल्स ने इस भ्रातृत्व का इस प्रकार विश्लेषण किया था:—

"इस प्रकार के वर्ग सम्बन्धों को काल्पनिक रूप से दूर करने के लिये भ्रातृत्व अर्थात् सार्वजनिक भ्रातृत्व प्रचार की बात कही गई। इस प्रकार वर्ग-शत्रुओं को मानमाने काल्पनिक तरीके से मिलन करा देना, वर्गशत्रुता का इस प्रकार हवाई दूरीकरण, इस प्रकार वर्गयुद्ध में स्वाभिक रूप से उठ जाय, भ्रातृत्व, यह फरवरी क्रांति के ऐन पहले चला। कहा गया कि केवल एक गलतफहमी के कारण वर्ग लड़ रहे हैं, इसलिये लामार्तिन ने फरवरी २४ की अस्थाई

सरकार को Un gouernement qui suspende Ce malentendu terrib qui existe entre les different es classes—अर्थात् ऐसी सरकार बनाया जो विभिन्न वर्गों के बीच की गलतफहमी का दूरीकरण कर चुकी है। पैरिस का सर्वहारा वर्ग इस व्याख्या को सुन कर फूला नहीं समाया।" हां उसको अक्ल तब आई जब जून-विद्रोह के मौके पर उसे रक्तस्नान कराया गया।

कांग्रेस एक बहुवर्ग संस्था

पास की घटनाओं पर लौटते हुए अब हम पूछते हैं कि कांग्रेस क्या है? "प्रत्येक राजनैतिक संस्था का स्वरूप जानने के लिये यह जरूरी है कि यह जान लिया जाय कि उस को कौन से वर्गों ने बनाया है।" इस दृष्टि से देखने पर कांग्रेस एक बहुवर्ग संस्था है। इसमें किसान, मजदूर के साथ ही साथ पूंजीपति और जमीदार भी हैं।" इसलिये हम यदि इस पेचीदे प्रश्न में भी न पड़ें कि इन वर्गों में से किस वर्ग के हाथों में कांग्रेस की बागडोर का नियंत्रण है, हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि ऐसी बहुवर्ग संस्था के लिये किसान-मजदूर राज उपयुक्त नारा नहीं हो सकता, ऐसी संस्था के लिये लोकतांत्रिक प्रजातंत्र का ही नारा उपयुक्त होगा। इस प्रकार जरा-सा चर्मगभीर विश्लेषण करते ही कांग्रेस नेताओं द्वारा दिये गये किसान-मजदूर-राज के नारे पर शक होने लगता है। स्पष्ट है कि कुछ कांग्रेस नेताओं के द्वारा दिये गये इस नारे का अर्थ मजदूर-किसान वर्ग का अधिनायकत्व नहीं हो सकता।

गांधी जी द्वारा इस नारे का स्पष्टीकरण

फिर कांग्रेस नेताओं के द्वारा दिये गये किसान-मजदूर-राज का क्या अर्थ है, इसे किसी और ने नहीं स्वयं महात्मा गांधी ने साफ किया है। इस सम्बन्ध में परिस्थिति क्या है यह अध्यापक रंगा

और गान्धी जी में जो बात हुई थी और जिस की रिपोर्ट मद्रास से ए० पी० आई ने ६ दिसम्बर १६४४ के दिन भेजी थी, उससे साफ हो जाती है:—

श्री रंगा—आप का कहना है कि जमीन ठीक तौर पर देखने पर किसान की है, या होनी चाहिये ? इससे क्या आप का मतलब है कि किसान जिस जमीन को जोतता है उस पर उसका नियंत्रण हो, या यह भी कि उसका उस समाज तथा राष्ट्र पर अधिकार हो जिसमें वह रहने के लिये बाध्य होता है ? यदि किसानों का जमीन पर ही अधिकार हो पर राष्ट्र पर नहीं, तो उनकी हालत सोवियट रूस की तरह होगी जहां अधिनाकत्व है।*

म०गांधी--मुझे यह नहीं मालूम कि सोवियट रूस में क्या हुआ था। पर मुझे इसमें सन्देह नहीं कि यदि हमें लोकतांत्रिक स्वराज्य प्राप्त हो, जैसा कि होगा यदि हम अहिंसा से स्वराज्य प्राप्त करें तो उस हालत में किसान के हाथों में सब तरह की शक्ति जिसमें राजनैतिक शक्ति भी है मिलेगी।

श्री रंगा—क्या इसका मैं यह अर्थ लगाने के लिये स्वतंत्र हूँ कि जमीन गैरहाजिर जमीन्दार की नहीं होगी और अन्त तक जमीन्दारी पद्धति को खतम करना पड़ेगा।

महात्मा गांधी—हाँ। पर आप को यह भूलना नहीं चाहिये कि मैं एक ऐसी पद्धति की कल्पना करता हूँ जिसमें राष्ट्र के द्वारा नियंत्रित टस्टीप्रथा होगी। दूसरे शब्दों में मैं जमीन्दारों को दुश्मन बनाना नहीं चाहता और सच तो यह है कि मैं किसी भी वर्ग को बिना कारण विरुद्ध बनाना नहीं चाहता।

---

*अध्यापक रंगा का रूस विद्वेष प्रसिद्ध है, फिर भी ये ही महाशय 'लोकयुद्ध' होकर जेल से छूटे—म० गुप्त।

धारासभाओं के सुधार

श्री रंगा—जब आप यह कहते है कि किसान को ऐसे काम करना चाहिये कि जमींदार उसका शोषण न कर सके, तो क्या इन कार्यों में सत्याग्रह तथा अपने वोटाधिकार द्वारा ऐसे सुधार तथा कानून बनावाने आ जाते हैं या नहीं जिनके कारण जमींदार की शक्ति कम से कम हो जाय तथा किसान की वैयक्तिक तथा सामूहिक अवस्थाओं की उन्नति हो ?

महात्मा गांधी—सत्याग्रह और असहयोग की बनावट ऐसी है कि वह केवल उस समय काम में लाया जा सकता है जब भूमि के जोतने वालों के हाथों में कोई अधिकार न हो। पर ज्यों ही उनके हाथों में अधिकार आ जाते हैं त्यों ही धारा-सभाओं के जरिये से ही उनकी उन्नति का क्रम जारी रहेगा। पर आप कह सकते हैं कि उनके हाथों में कदाचित इतनी शक्ति न आवे। मेरा उत्तर यह कि यदि सारी जनता के प्रयास से स्वराज्य मिले, जैसा कि अहिसा के उपाय में होगा, तब तो किसानों की आवाज सर्वोपरि होनी चाहिये। पर यदि ऐसा न हो और जनता तथा सरकार के बीच एक सीमित वोटाधिकार के आधार पर समझौता हो, उस हालत में जमीन को जोतने वालों के स्वार्थों पर बड़ी देख-रेख रखनी पड़ेगी। अवश्य यदि धारासभायें किसानों के हितों की रक्षा न कर सकें तब तो हर हालत में सत्याग्रह और असहयोग का ब्रह्मास्त्र है ही। पर जैसा कि मैंने १६२२ में ही चिराला पेराला में कहा था कि अन्त तक सही कानूनसाजी और न गरम व्याख्यानों की बड़ी-बड़ी बातें ही किसान को बचायेगी, बल्कि अहिंसात्मक संगठन, अनुशासन, त्याग ही उसे अन्याय तथा दमन से बचायेगा।

श्री रंगा—बम्बई की अ० भा० कांग्रेस कमेटी का प्रस्ताव जनता को यह आश्वासन देता है कि राष्ट्रीय सरकार तथा स्वराज्य

में शक्ति जमीन पर किसान तथा कारखानों पर मजदूर को दिलायेगा। क्या हम यह कह सकते हैं कि इस प्रस्ताव का अर्थ यह है कि कांग्रेस का लक्ष्य किसान-मजदूर-प्रजा राज्य है।

महात्मा गांधी—न सिर्फ बाद को बल्कि पहले भी। कांग्रेस का लक्ष्य है लोकतांत्रिक-किसान-मजदूर-प्रजा राज्य।"

फिर यह नारा क्यों? केवल नारेबाजी

स्वयं गान्धी जी के द्वारा इस व्याख्या के बाद यह गुंजाइश नहीं रह जाती कि कांग्रेस द्वारा दिये गये किसान-मजदूर-राज की अन्तर्गत वस्तु क्या है इसमें सन्देह रहे। कांग्रेस लोकतांत्रिक प्रजातंत्र (Democratic Republic) चाहती है। इसी को घुमाव-फिराव के साथ किसान-मजदूर-प्रजा-राज कहा गया है। फिर भी इस बात को छिपाकर किसान-मजदूर-राज्य का नारा क्यों दिया जा रहा है यह स्पष्ट है। इस प्रकार बज्र चुराकर दबावराजनीति वाले वामपक्षियों को निरस्त्र कर देना चाहते हैं, पर वे इस बात को भूल जाते हैं कि सचमुच उसकी अन्तर्गत वस्तु को उसके वैज्ञानिक अर्थ के साथ स्वीकार किये बगैर ऐसी नारेबाजी सफल नहीं हो सकती।

अतिजोशीले श्री केशवदेव मालवीय

अवश्य श्री केशवदेव मालवीय की तरह अतिजोशीले दक्षिणपंथी हैं जो यह चाहते हैं कि कांग्रेस वामपक्षियों तथा समाजवादियों के सब नारों को स्वीकार कर ले, बल्कि उनसे सवा नारे दें। उनका कहना है कि "कांग्रेस को चाहिये कि वह घोषित कर दे कि वह सामापद्धति में आमूल परिवर्तन चाहती है तथा वह एक ऐसे राष्ट्र की स्थापना के लिये लड़ रही है जिसमें जमीन तथा उत्पादन के साधन अन्तिम रूप से मेहनतकशों के हाथों में रहेंगी न कि व्यक्तियों के हाथों में।"

"अवश्य हम प्रारम्भ में एक परिवर्तनकालीन युग की व्यवस्था करेंगे क्योंकि यह समझ लेना गलत है कि युगों की पुश्त-दर-पुश्त

चली आई हुई समाजिक आदतें, रिवाज सब रात-भर में भुला दिये जायेंगे। लोकतंत्र का यह विस्तृत प्रयोग बअसर तरीके से किया जायगा, पर सावधानी से।"

"मैं इसलिये चाहता हूँ कि राष्ट्रीय कांग्रेस मजदूरों, किसानों तथा सामयिक रूप से मध्यवित्त श्रेणी के लिये बोले तथा उनके हितों की रक्षा करे। कांग्रेस का लक्ष्य समाजवादी गठन युक्त मजदूर-राष्ट्र होना चाहिये।"

युद्ध केवल बढ़ कर नारा देने का नहीं

ऐसे लोग जिन्होंने साधारण बुद्धि से छुट्टी ले ली है, उनके नजदीक ही वामपक्षी और दबाव राजनीतिज्ञों के बीच का जो युद्ध है, वह केवल बढ़-बढ़ कर नारे देने का ही युद्ध है। ऐसे लोगों के अनुसार जो भी पार्टी बढ़कर नारे दे और खूब डींग मारे उसी के माथे पर सेहरा रहेगा। इसलिये केशवजी अपनी आविष्कार से खुश होकर इसका ढिंढोरा पीटने चल दिये। वे चाहते हैं कि कांग्रेस इस आविष्कार से फायदा उठावे और इसे ग्रहण कर ले। वे समझते हैं कि जहाँ कांग्रेस ने ऐसा किया कि तहाँ वामपक्ष का भूत छोड़ कर भागेगा और उनका बुलबुला फूट जायगा। वे स्पष्ट कहते हैं "इस प्रकार की बातों को कहने से किसान सभा, कांग्रेस समाजवादी दल, कम्युनिस्ट दल सब देश के महान दल के अन्दर बेकार हो जायेंगे। इनको कांग्रेस के अन्दर पनपने नहीं देना चाहिये।"

श्री मालवीय एक हद तक ठीक

हमारे लायक मित्र को पहले तो यह बता देना चाहिये कि उनका यह आविष्कार कुछ नया नहीं है। मुसोलिनी और हिटलर ने पहले ही यह आविष्कार किया था। दूसरी बात यह है कि यह केवल बढ़-बढ़ नारा दे देने की बात नहीं है। अवश्य श्री मालवीय के प्रति न्याय करने के लिये यह जरूरी है कि यह बता दिया जाय

कि हमारे राजनैतिक क्षेत्र में बहुत से ऐसे महानुभाव हैं जो वामपक्षी के रूप में चल रहे हैं. पर वे केवल लम्बी जीभवाले दक्षिणपंथी हैं। न तो तरीके में ही और न विश्वदृष्टि में ही उनमें और उन लोगों में जिनका वे विरोध कर रहें हैं कोई फर्क है। इनमें से बहुत से तो कतई समाजवादी नहीं हैं और समाजवादी दलों के इर्द गिर्द जमा हो गयें हैं कि वे समझतें हैं कि इस प्रकार उन्हें ओहदे जल्दी मिल जायेंगे। इन लोगों को तो समाजवाद के सम्बन्ध में कुछ आता-जाता ही नहीं है। ऐसे लोग समाजवादी शिविर के लिये लज्जाजनक हैं। अवश्य ही यदि दक्षिणपक्षी इन लोगों के नारों को ग्रहण कर ले या चुरा लें, तो इन लोगों के पैर के तले की जमीन खिसक जायगी। यहाँ तक केशवजी का कहना बिलकुल ठीक है। ऐसे क्षेत्र में केशव जी का आविष्कार या मैं उसे पुनराविष्कार कहूँ कुछ न कुछ बर्फ अवश्य गला लेगा।

पर सभी वामपक्षी नारेबाज नहीं, उदाहरण सुभाष आदि

पर केशव जी ऐसे लोगों को दुःख देने के लिये कुछ वास्तविक वामपक्षी और समाजवादी हैं जिनके न केवल वाक्य ही भिन्न हैं पर कार्य भी भिन्न हैं। उदाहरण सुभाष बाबू को लिया जाय। वे अपने तर्क के अन्तिम छोर तक गये। वे संग्राम के तकाजे के अनुसार तरीकों तथा साधनों से झिझके नहीं। वे चोरी से भारत के बाहर चले गये। फिर उन्होंने आजाद हिन्द फौज का सङ्गठन किया। क्या गान्धी जी, मशरूवाला, जाजू इत्यादि ऐसा कर सकते हैं? क्या यह कल्पना की जा सकती है कि किसी भी परिस्थिति में ये आजाद हिन्द फौज का सङ्गठन कर सकते हैं? फिर जयप्रकाश जी योगेन्द्र शुक्ल, योगेश चटर्जी, अरुणा तथा अन्य ऐसे लोगों को लिया जाय जिन्होंने १९४२ में जिन तरीकों से काम किया एक सच्चा गाँधी-वादी कभी नहीं कर सकता। गाँधी जी या ऐसे लोग जो उनमें

विश्वास रखते हैं किसी भी हालत में जेल की दीवार नहीं फाँदेंगे, अफसरों को मारने के लिये गुप्त षड्‌यंत्र इत्यादि नहीं करेंगे। तो यह मानना ही पड़ेगा कि इन लोगों के दृष्टिकोण में और गान्धी जी के दृष्टिकोण में मौलिक प्रभेद है।

१९४२ में वामपक्षी के अलावा भी लोग थे

अवश्य मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि १९४२ की क्राँति में जिन लोगों ने उस प्रकार के कार्यों में भाग लिये जिसे सरकारी तौर पर 'तोड़फोड़' बताया गया है, सब के वामपक्षी या समाजवादी ही थे। सत्य इससे कहीं दूर है। इनमें से तो बहुत से किसी दल के नहीं थे। इन 'तोड़फोड़' वालों में से बहुत से तो काँग्रेस के भी नहीं थे। बात यह है अब की बार जनता स्वयं जगी थी। इन्होंने तो पार्टियों का नाम भी नहीं सुना था। मुझे इसमें भी सन्देह है कि इनमें से सभी यह भी जानते थे कि नहीं कि काँग्रेस क्या है, पर अपनी निश्चित क्राँतिकारी वृत्तियों से परिचालित होकर वे उस शोषक पद्धति का अन्त करने के लिये चल पड़े थे, जिसने उनका खून पीकर तथा उनका अपमान कर करके उन्हें कहीं का नहीं रक्खा था।

१९४२ में कई दक्षिणपंथी क्रान्तिकारी

और इस क्रान्तिकारी जनता के साथ-साथ कुछ कट्टर दक्षिणपंथी थे जिन्होंने नये तरीके को ग्रहण किया, तार काटना, बम बनाना आदि कार्य में भाग लिया। मुझे ऐसे कई दक्षिणपंथियों से जेलों में मिलने का मौका मिला। मैंने इन दक्षिणपंथियों के मुँह से उनकी वीरगाथायें सुनीं और मैंने उनकी वैसे ही प्रशंसा की जैसे मैंने खुदीराम, कन्हाईलाल, काकोरी के शहीद, भगतसिंह, आजाद इत्यादि की सराहना की थी।

पर ये बाद को पछताये

मैं ऐसे मित्रों का नाम न लूँगा क्योंकि वायसराय के साथ जेल

से किये गये गांधी जी के पत्र-व्यवहार के बाद इनमें से कई की तो बोलती बन्द हो गई और इनको देखकर यह ज्ञात होता था कि ये घबड़ा गये हैं और अपने अनधिकृत कृत्यों को भूल जाना चाहते हैं। इन लोगों ने १६४२ में जो कुछ भी तार काटे तथा पटरी आदि उखाड़ी थी, वह इस धारणा के अनुसार किया था कि कांग्रेस इनका समर्थन करती है, पर जब इन्हें मालूम हो गया कि बात ऐसी नहीं है, तो ये पछताने लगे कि उन्होंने ऐसे कार्यों में भाग लिया था। वे अगर किसी कारण से नहीं तो इस कारण से घबड़ाये कि कहीं इन 'गलतियों' के कारण गांधी जी के निकट वे पंक्तिच्युत न हो जायँ और ऐसा होने का जो नतीजा हो सकता है वह न हो।

कोई भी वामपक्षी पछताता न होगा

पर मुझे निश्चय है कि कोई भी वामपक्षी या समाजवादी यह रुख न लेगा। जिन दक्षिणपंथियों ने १६४२ में कथित 'तोड़फोड़' में भाग लिया, कार्य की दृष्टि से वे उसी श्रेणी में आते हैं जिसमें सुभाष, जयप्रकाश, अरुणा, योगेश चटर्जी आदि आते हैं, पर बस यहीं तक। इन दोनों तरह के लोगों के मानसिक रुख में आकाश-पाताल का अन्तर है। यदि फिर दूसरा १६४२ आवे तो ये पश्चातापग्रस्त दक्षिण-पंथी अपनी 'गलतियों' की पुनरावृत्ति नहीं करेंगे, पर वामपक्षी और समाजवादियों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती।

आगामी संग्राम में भी कुछ दक्षिणपंथी होंगे

अवश्य इसका अर्थ यह नहीं है कि आगामी संग्राम में केवल वामपक्षी तथा जनता ही रहेगी जो वास्तविक संग्राम के समय हमेशा वामपक्षी ही होती हैं। नहीं, क्रान्ति की शक्तियां बड़ी प्रबल होती हैं। जिस समय संग्राम की बाढ़ आयेगी, उस समय बहुत से दक्षिणपंथी फिर बह जायँगे। गत बार वे इस धोखे में बहे थे कि कांग्रेस ने इन तरीकों को अपनाया था। अबकी बार वे किसी और धोखे में होंगे,

और उस धोखे की आड़ में इतिहास उनसे वह काम ले लेगा जो लेना चाहेगा। अवश्य इस बार मशरूवाला, जाजू आदि का पदस्खलन न होगा। वे राजा कैन्युट की तरह क्रान्ति के अग्रसर होने वाले महा-सागर को हुक्म देते रह जायँगे कि आगे मत बढ़ो, पर उसका नतीजा वही होगा जो पहले हुआ। तब की बार क्रान्ति इनको लेकर बही थी, अबकी बार इनके ऊपर से और जरूरत पड़ी तो इन्हें डुबाकर बहेगी।

वामपक्षी कौन हैं

किसी भी हालत में दोनों रुखों का प्रभेद स्पष्ट है। वामपक्षी या क्रान्तिकारी वह है जिसमें किसी प्रकार आधिदैविक निषेधबोध (Mataphysical inhibition) नहीं है और जो संग्राम की आवश्यकता के तकाजे के अनुसार चलने के लिये तैयार है। उसके निकट यह नियम कि प्रतिपक्षी चाहे खेल के नियमों को मानकर चले या न चले, उसे आत्मत्याग स्वीकार कर खेल के नियमों का पालन करना चाहिये बिलकुल मूर्खता है।

१९४२ पर श्री सम्पूर्णानन्द

श्री सम्पूर्णानन्द जी ने १९४५ के दिसम्बर को कांग्रेस कार्यसमिति के प्रस्तावों पर टीका करते हुये जो कुछ कहा, वह इस सम्बन्ध में प्रासांगिक है। उन्होंने कहा :—

"आजाद हिन्द फौज की वीरता तथा कष्टों ने लोगों को और भी गहराई के साथ स्पर्श किया। इन व्यक्तियो को देशभक्ति तथा साहस का क्या कहना था और सुभाष बाबू जनता के इतने प्रिय हो गये कि उनको इस जनप्रियता से उतारना बहुत मुश्किल था। हाई कमांड ने इस परिस्थिति को खूब तौल लिया। स्पष्ट ही है कि कुछ दिनों के लिये इसके पाँव खिसक गये। कुछ भी हो इसने यह तय किया कि इसका पूरा फायदा उठाया जाय और इसने अपनी जबर्दस्त आवाज १९४२ तथा

आजाद हिन्द फौज के वीरों की प्रशंसा में लगा दिया। सुभाष जिनके सम्बन्ध में यह समझा जाता था कि वे मर गये हैं, इतने प्रशंसित हुये कि यदि वे जीवित होते तो उसकी हसद करते।

"स्पष्ट है कि अब यह समझ लिया गया है कि इस खेल को काफी दूर तक चलने दिया गया और हमें अब ठहर जाना चाहिये। कार्य को कार्य करने वाले से अलग नहीं किया जा सकता और यदि १६४२ की तथा आजाद हिन्द फौज की अहमियत को बढ़ने दिया गया, तो फिर तो ऐसे लोगों के शक्ति आरूढ़ होने के लिये जमीन पैदा हो जायगी जो शुरू मे ही यह कहते आ रहे हैं कि नपी-तुली कट्टर विचारधारा को लेकर चलना चाहिये। इसलिये अब यह फैसला किया गया कि धारा उलट दो। अब हमारे जिम्मेदार नेतागण यह कहने लगे कि आजाद हिन्द फौज की पैरवी का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि उनके तरीके का समर्थन किया जा रहा है। यह भी कहा गया कि कांग्रेस ने इस काम के बीड़े को उठा लिया कि कोई ऐसा नहीं था जो इसे उठा लेता। इस प्रकार यह सारा काम एक तरह की परोपकारी सेवासमिति का कार्य हो गया और फिर इस पर अहिंसा सम्बन्धी कार्यसमिति वाला प्रस्ताव आ गया। यह समझ में नहीं आता कि इस महान समिति ने इस समय देश के सन्मुख यह प्रस्ताव क्यों रक्खा। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी बम्बई में तो यह प्रस्ताव पास कर ही चुकी थी कि कांग्रेस की नीति अहिंसात्मक है। बम्बई और कलकत्ता के बीच में कोई ऐसी बात नहीं हुई थी कि फिर से इस पर जोर दिया जाता। इस बात में क्या तुक था कि कुछ खास तरह के कामों को अलग करके उन्हें अहिंसा विरोधी बताया गया।

"यह ख्याल हुये बिना नहीं रहता कि जिसने भी इस प्रस्ताव की रचना की या उसको आगे बढाया, उसे यह हिम्मत नहीं हुई कि वह इस प्रस्ताव को लेकर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सामने

आता। इसलिये इस प्रस्ताव को एक तरह के चुपचाप पारिवारिक सम्मेलन में पास कर दिया गया।"

सम्पूर्णानन्द जी का निराशावाद

यह सब तो सम्पूर्णानन्द जी जो कुछ कह रहे हैं वह ठीक ही है, पर वे एक बहुत निराशावादी तरीके से अपने वक्तव्य को समाप्त करते हैं जिससे सहमत होना सम्भव नहीं। वे कहते हैं :—

"इस प्रस्ताव में न केवल फिर से यह बताया गया है कि अहिंसा के सम्बन्ध में कांग्रेस की नीति क्या है, बल्कि इसमें कांग्रेस की भविष्य नीति प्रतिफलित हुई है। अनुदार लोगों ने तो यहाँ तक कहा है कि यह प्रस्ताव लार्ड वेवल के कहने पर पास किया गया है, पर मैं उतने दूर तक जाने की कोई आवश्यकता नहीं समझता। कुछ कामों को कांग्रेस के मौलिक सिद्धान्तों का विरोधी बताकर कार्यसमिति ने भविष्य में आने वाली चीजों के आकार का भी निर्णय कर दिया है। अब या तो आगे कोई आन्दोलन तथा विद्रोह होंगे ही नहीं, या होंगे तो बिलकुल गान्धीवादी ढंग पर होंगे। अब कोई सार्वजनिक उथल-पुथल या तोड़फोड़ नहीं होगी। १९४२ की गलतियों की पुनरावृत्ति नहीं होगी। महीनों पहले से कार्यसमिति स्पष्ट हिदायतें दे देगी जिनमें यह बताया जायगा कितनी भी तैश दिलाये जाने पर भी अमुक-अमुक बात नहीं होगी।

"इस प्रस्ताव में जिन तीन बातों की मुमानियत की गई है, वे तो महज शुरुआत के तौर पर है, इस सूची को और भी विस्तृत किया जा सकता है जिससे 'तोड़फोड़ वालों' के लिये कोई गुंजाइश ही नहीं सत्याग्रह और असयोग सो भी शायद सीमित दायरे पर हो पर। इसमें जनता को दूर ले जायगा, वह केवल सहानुभूति के साथ तमाशा देखेगी। इस प्रकार जो सीमित तथा तंग कार्यक्रम बनेगा, उसमें जनता के लिये अपनी उन्मेषशालिनी बुद्धि के प्रयोग की, नई नीति की कोई

गुंजाइश नहीं रहेगी और न ऐसे नये नेताओं को निकलने का कोई मौका रहेगा जो पुराने नेताओं की जनप्रियता या मर्यादा को चुनौती दे सकेंगे। हम लोगों में से जिन लोगों ने यह समझ रक्खा है कि आगे चल कर पहले से जबर्दस्त आन्दोलन होगा, उन्हें इन बातों को खूब समझ लेना चाहिये। अहिंसा के जादूभरे मंत्र ने अवसर तरीके से भविष्य के लिये ऐसे आन्दोलनों की आशा पर पानी फेर दिया है।"

यह निराशावाद अकारण

श्री सम्पूर्णानन्द जी ने यह जो निराशावाद और पराजयवाद दर्शाया है, वह अहेतुक है। जब वे स्वयं ही यह मानते हैं कि "अगस्त १९४२ की घटनाओं ने तथा बाद की घटनाओं ने जिन्हें सब लोग गर्व के साथ अगस्त-विद्रोह कहते हैं, सरकार तथा हाई कमांड के हिसाबों पर पानी फेर दिया। हाई कमांड ने अव्वल तो कोई हिसाब ही नहीं लगाया था पर जितना लगाया था उसी की बात हो रही है। जनता ने इतनी उन्मेषशालिनी बुद्धि, सङ्गठन तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व दिखलाया कि कोई भी इन्हें इस काबिल समझता नहीं था। सब से बड़ी बात है कि कीड़े ने करवट ली थी। न केवल लोगों ने त्याग और सहनशक्ति के साथ मार को सहन किया था, बल्कि कहीं-कहीं इसका जवाब भी दिया गया था। सब से आश्चर्य की बात है कि सरकार के एजेन्ट जिस नीचता तक उतरे थे, किसी भी क्षेत्र में जनता उस पशुता तथा नीचता के दर्जे तक नहीं उतरी। जनता की ओर से स्त्रियों का अपमान नहीं हुआ और न सम्पत्ति लूटी गई। लोग अपना साधारण काम करते जाते और कोई उन्हें नहीं छेड़ता और साम्प्रदायिक वैमनस्य का कहीं पता नहीं था।

आगे जनता किसी की कठपुतली नहीं रहेगी

फिर सम्पूर्णानन्द जी निराश क्यों हैं? जब १९४२ में चीजों का नकशा गांधी जी के नकशे के मुताबिक नहीं हुआ, तब वे क्यों

डरते हैं कि जनता दबाव-राजनीतिज्ञों के हाथों में कठपुतली बनी रहेगी और घटनायें उन्हीं की योजना के अनुसार चलेंगी ? उस बार जनता ने सामाजिक, आर्थिक शक्तियों के द्वारा परिचालित होकर घटनाओं को अपने हाथों में ले लिया और इतिहास निर्माण किये थे। मुझे निश्चय है कि वे ऐसा ही आगे भी करेंगे। जनता ने ही गाँधी जी को जन्म दिया ! तब हम यह आशा क्यों न करें कि आवश्यकता करने पर लेनिन तथा बालशेविक पार्टी को जन्म देगी। अवश्य ही यह दुराशा मात्र नहीं है न शाब्दिक आतशबाजी है, मैं बिलकुल स्पष्ट देख रहा हूँ कि घटनायें उसी ओर जा रही है। दवाब राजनीतिज्ञ अपने ढङ्ग से पासे में गड़बड़ी कर रहे हैं पर वे कुछ भी करें वे हारेंगे यह सुनिश्चित है।

कांग्रेस नेताशाही में घबराहट

१९४२ तथा आजाद हिन्द फौज की गर्दनतोड़ प्रशंसा के बाद एकाएक काँग्रेस की नेताशाही आतंकग्रस्त हो गई है, इससे प्रमाणित होता है कि ऐसी शक्तियाँ गतिशील हैं कि उनको घबड़ाहट हो रही है। फरवरी (१९४६) को नाविक सेना के विद्रोह ने तो नेताशाही का होश गुम कर दिया। इसी प्रकार के कारणों से काँग्रेस को शुद्ध करने का नारा है। इसी कारण कहा जा रहा है कि किसान-मजदूर-राज के नारे को अपनाया जाय। इसी लिये इस बात का आविष्कार किया गया कि लक्ष्य के सम्बन्ध में और भी गरम नारे अपनाये जायँ। पर काँग्रेस इन सलाहों को मान कब सकती है जब कि वह केवल रामराज्य अर्थात् शुभेच्छापूर्ण वर्ग-शासन चाहती है। केशव जी और दूसरे चिल्ला-चिल्ला कर भले ही अपने गले फाड़ डालें, पर नेताशाही के मार्ग में कई व्यवहारिक रोड़े हैं जिससे वे लक्ष्य के सम्बन्ध में गरम नारों को अधिक दूर तक ग्रहण करके नहीं ले जा सकती।

जिस दिन पत्रों में केशव जी का उल्लिखित आविष्कार प्रकाशित हुआ था, उसी दिन यह छोटी सी खबर प्रकाशित हुई थी:—

"पटेल की सेवायें सोने में तौली गई"

अहमदाबाद १२ जनवरी, आज शाम को सर्दार पटेल को मिल मालिकों के असोशिएशनने पाँच लाख एक रुपये का एक चेक दिया। मिल मालिकों के असोशियेशन के सभापति सेठ शंकरलाल बालभाई ने कहा कि सरदार ने जो देश सेवायें की हैं, उन्हीं के लिये यह एक तुच्छ प्रतीक रूपी भेंट है।

सरदार पटेल ने उत्तर देते हुए कहा कि वे अहमदाबाद में बहुत दिलचस्पी रखते हैं, यहीं से उन्होंने अपने सार्वजनिक जीवन का सूत्र-पात किया। उन्होंने मिल मालिकों से यह कहा कि वे केवल सूती मिलों तक ही अपनों को सीमित न रक्खे, बल्कि दूसरे धन्धे भी खोलें। (ए० पी:)"

किसान-मजदूर-राज चाहना और मिल मालिक संघ से पुजाना

क्या यह सम्भव है कि कोई व्कति जो सचमुच किसान-मजदूर राज चाहता है, जो लूटने वालों को लूटने का पक्षपाती है, जो सब कारखानों,खानों इत्यादि का समाजीकरण (केवल रष्ट्रीयकरण नहीं) चाहता है उसकी सेवाओं को मिल मालिकों का संघ इस प्रकार सोने से तौलेगा ? स्मरण रहे कि यह केवल एक मिल मालिक के बहक जाने की बात नहीं, इस प्रकार शोषक वर्ग के एक आध व्यक्ति का बहक जाना सम्भव है बल्कि इस प्रकार शोषक वर्ग के एक आध व्यक्ति का फूट जाना इस बात का द्योतक है कि क्रांति होने जा रही है, पर सारा मिल-मालिक संघ मजदूर-राज के पुजारी की पूजा करे, यह विश्वस करना मूर्खता है। स्पष्ट है कि इस नारे में ही कोई ऐसी बात है जो मिल-मालिकों को डराती नहीं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार किसान-मजदूर-राज के नारे के रूप में कांग्रेस नेताशाही

ने जिस पिस्तौल को शोषक वर्ग के माथे पर पकड़ रक्खा है, वह खिलौने वाली पिस्तौल है और शोषकवर्ग इस बात को अच्छी तरह समझता है।

किसान मजदूर राज का नारा नारा ही

इसलिए बेचारे केशव जी का आविष्कार कांग्रेस के कूड़ेखाने में सड़ेगा। सारी परिस्थितियों को देखते हुए कांग्रेस नेताशाही ने उसी तरीके को अपनाया है जो गांधी जी का है। किसान-मजदूर-राज का नारा दिया जा सकता है, पर इसके अधिक ब्यौरे में जाने की जरूरत नहीं। हाँ यदि कोई ब्यौरा मांगे तो आधिदैविक बातें कही जाँय और असली मामले को बराया जाय। पर जैसा कि हम देख चुके हैं कभी-कभी गांधी जी को प्रश्न पूछने वाले तंग करके अधिक पूछ बैठते हैं और तब उन्हें मजबूर होकर गांधीवादी समाजवाद के बुलबुले को तोड़ कर उसमें से ट्रस्टीत्व की बदबू को फैलाना पड़ता है।

ट्रस्टीत्व की बदबू

१९४५ के ५ सितम्बर को यह प्रमाणिक समाचार प्रकाशित हुआ :—

"कानपुर, ५ सितम्बर, आचार्य नरेन्द्रदेव और श्री सूर्य प्रसाद अवस्थी महात्मा गांधी से २८ अगस्त को पूना में मिले। उनके साथ महत्वपूर्ण मजदूर-समस्याओं पर विचार-विनिमय किया। अपनी बातचीत के दौरान में इन दो नेताओं ने पूछा कि क्या राष्ट्रीय कांग्रेस तथा मजदूर कांग्रेस की तरह संघ अपने विधान में 'सत्य और अहिंसा' की जगह पर 'शान्तिपूर्ण और वैद्य' शब्द लगा सकता है। इस पर कहा जाता है कि गांधी जी ने यह कहा उनका उन लोगों के साथ मतभेद है जो यह समझते हैं कि सत्य और अहिंसा राजनैतिक शब्द नहीं है। राजनैतिक क्षेत्र में 'शान्तिपूर्ण और वैद्य' शब्द अधिक उपयुक्त है। महात्मा जी ने यह कहा कि कांग्रेस के विधान

में भी इन शब्दों को तो उन्होंने ही रखवाया है। पर इस क्षेत्र में चूँकि मजदूरों से काम है 'ये शब्द राजनैतिक नहीं है' इत्याकार आपत्ति का कोई अर्थ नहीं होता। मजदूरों को सीधे सरल तरीके से यह बता देना चाहिये कि वे क्या करें और क्या न करें।"

ट्रस्टीत्व के सम्बन्ध उन्होंने कहा कि "संघ के विधान में इसका उल्लेख नहीं है, पर यह तो सभी जानते हैं कि इस शब्द के साथ उनका नाम स्थायी रूप से लगा हुआ है। इस पर कोई वादविवाद करे तो वह उचित ही है।"

उन्होंने कहा कि "वर्ग संघर्ष को तीव्रतर नहीं बनाना चाहते। मालिकों को ही ट्रस्टी हो जाना चाहिये। हाँ वे ऐसा कह सकते हैं कि वे मालिक भी रहेंगे और ट्रस्टी भी। उस हालत में हमें उनका विरोध करना तथा उनसे लड़ना पड़ेगा। उस हालत में सत्याग्रह हमारा अस्त्र होगा।" गान्धी जी ने कहा "यदि हम वर्गहीन समाज भी चाहें तो हमें गृहयुद्ध नहीं करना चाहिये।" (ए० पी० आई०)

इस प्रकार केशव जी के •आविष्कार का कांग्रेस में पेटेन्ट होने की कोई आशा नहीं। त्राण का मार्ग दूसरा ही है। वह यह है कि आधिदैविक दर्शन को अपनाया जाय, उसके साथ साथ प्राकृतिक चिकित्सा आदि अपनाई जाय, जिनसे जनता किसी बात को अधिक गहराई तक न ले जाय।

सातवां अध्याय

सांगठनिक समस्यायें

महात्मापन में खतरा

पर जनता ने सबक ले लिये हैं। वह किसी भी हालत में उस सबक को भूल नहीं सकती जिसको उसने विपुल त्यागों का दाम देकर सीखा है। महात्मापन में फायदा भी है और नुकसान भी। एक महात्मा कोई भी मूर्खतापूर्ण से मूर्खतापूर्ण बात कह सकता है और जनता कहेगी तथास्तु-आमीन। एक महत्मा के सम्बन्ध में यह समझा जाता है कि वह ईंट को दीवारों के बीच से देख सकता है, पर साथ ही ऐसा हो सकता है कि व्यवहारिक विषयों में उसकी एक बात गम्भीरता के साथ न मानी जाय। बात यह है कि महात्मा तो महान आत्मा ही है। वे तो ऐसे-ऐसे आदर्शों का अनुसरण कर सकते हैं जो साधारण व्यक्तियों के लिये बिलकुल अप्राप्य और असम्भव हैं। एक महात्मा चाहे तो सत्य और अहिंसा की प्रशंसा में शतमुख हो सकता है। यह तो उनके लिये स्वाभाविक है। पर उनका आदर्श साधारण व्यक्ति के लिये बहुत ऊँचा है। सच तो यह है कि अब जिस समय माहत्मा जी सत्य और अहिंसा वाले अपने प्रिय विषय पर कुछ कहते हैं तो उसको कोई सुनता नहीं है।

महात्मा की बातों की अनसुनी

दिसम्बर १६४५ के प्रदर्शनों के कारण कार्य-समिति ने अहिंसा के सम्बन्ध में अपने प्रस्ताव रक्खे, पर फिर भी सुभाष दिवस (२३ जनवरी, १६४६) और बाद के कई अवसरों पर जनता ने इस प्रस्ताव

के विपरीत आचरण किया। जहाँ तक महात्मा जी की अहिंसा है, उसे कोई गम्भीरता के साथ ग्रहण नहीं करता। कुछ लोग तो यह कहते हैं कि सरकार की आँखों में धूल झोंकने के लिये इसे एक कानूनी दाँव-पेंच के रूप में लेना चाहिये। दूसरे कहते हैं यह उस प्रिय बुड्ढे का बुढ़भस मात्र है, इसे गम्भीरता के साथ लेने की आवश्यकता नहीं। बहुत से बुद्धिमान गाँधीवादी भी अब कहने लगे हैं कि मुँह से सत्य और अहिंसा की हिमायत की जाय, इसे गाँधी जी के नेतृत्व का टैक्स समझा जाय। कुछ लोग कहते हैं कि बुढ़ापे का कुछ तो खराज होगा ही।

जनता का नया रुख

गाँधीवाद के सारभाग के प्रति जनता का यह रुख युग का सूचक है। १९४२ के पहले भी यह रुख कुछ-कुछ था, पर अब तो यह जनता के दिमाग में घर कर गया है। महात्मा के द्वारा बोले हुए और पंडित नेहरू के फाउन्टेनपेन से लिखे हुए लाखों प्रस्तावों से दीवार पर का वह लिखा मिट नहीं सकता जो सैकड़ों शहीदों के पवित्रतम रक्त से लिखा गया है। केवल यही नहीं जब गाँधी जी इसके साथ-साथ अपने आधिदैविक दर्शन को जारी रखते हुए यह कहते हैं कि बन्दे मातरम और जय हिन्द दोनों अच्छे हैं, पर बन्दे मातरम अधिक वरणीय है, तो जनता जयहिन्द के तुमुल घोष से इसका उत्तर देती है। क्या ट्रेजेडी है!

आजाद हिन्द फौज और नेताशाही

जिस समय आजाद हिन्द फौज के सम्बन्ध में सब से पहले विश्वास योग्य खबरें आईं, उसी समय यह स्पष्ट हो गया कि जनता में इसकी खूब कद्र होगी, इसीलिये नेताशाही ने इससे फायदा उठाने की बात सोची। इस प्रकार काँग्रेस की नेताशाही ने ही आजाद हिन्द फौज को एक राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में तथा जयहिन्द को विद्रोही

भारत के युद्धघोष में परिणत करने में कारण स्वरूप हुई। यह जो आध्यात्मिक कदम उठाया गया यह एक बहुत ही मौतिक लक्ष्य याने चुनाव जीतने के लिये किया गया। पर इस प्रलोभन के कुछ दूर के नतीजे हुए।

नेताशाही कुटिल, जनता सरल

नेताशाही ने १९४२ की प्रशंसा की थी; जनता ने इसका अपने लायक मतलब लगा लिया। बात यह है कि जनता तर्कसंग्रह नहीं पढ़ी हुई है। उसके मन तो सीधे सरल तरीके से काम करते हैं। वे दो और दो चार लगाते हैं और अपने उपसंहार निकाल लेते हैं।

इसके बाद आजाद हिन्द फौज की प्रशंसा और जयहिन्द का नारा आया। जनता ने जो कुछ सीखा था वह इस्पात की कीलों से उनकी मग्नचेतना पर जड़ गई। अब इस सबक के विरुद्ध सारी बक-बक व्यर्थ है। दबाव राजनीतिज्ञ कितना भी टालें पर अगला संग्राम आकर रहेगा और उस समय जनता यह दिखायेगी कि वह क्या है? मैं श्री सम्पूर्णानन्द के निराशावाद से सहमत नहीं हूँ। मैं इससे भी आगे जाता हूँ, मैं यह कहता हूँ कि जैसे १९४२ में गाँधीवादियों ने भाग लिया था, उसी प्रकार उसमें से बहुतों को अगले संग्राम में चाहे अनिच्छा से ही काम करना पड़ेगा।

१९४२ का असफलता की रोशनी में कार्य

यदि नेताशाही चुनाव के दौरे की अपनी क्रान्ति, इनकलाब और बगावत सम्बन्धी बातों पर गम्भीर होती तो वह १९४२ की क्रान्ति की नाकामयाबी के कारणों को समझ कर इस नाकामयाबी की रोशनी में कांग्रेस का नये आधार पर संगठन करती। पर ऐसा कहां हो रहा है? जहां तक मैं देख पा रहा हूँ तरह-तरह की बातचीत के बावजूद कांग्रेस का उसी बाबा आदम के ढङ्ग पर शिथिल संगठन हो रहा है। चवन्नी

वाली सदस्यता और वह भी एक बड़ी हद तक बोगस। यही कांग्रेस संगठन का मध्यविन्दु है। अब भी इसी शिथिल सदस्यता पर लोगों का विश्वास है।

रूस की वालशेविक पार्टी और कांग्रेस

रूस की वालशेविक पार्टी की बात ली जाय। १६१७ में जब क्रान्ति हुई इसके सदस्यों की संख्या ४०००० से ज्यादा नहीं थी। इतने ही सदस्यों से पार्टी क्रान्ति की अग्रदूत हो सकी, पर कांग्रेस के तो लाखों सदस्य हैं। फिर भी वह वालशेविक पार्टी की तुलना में कहाँ है? केवल संख्या कुछ नहीं है। सदस्यों की किस्म से ही वारान्यारा होता है। यह मैं नहीं कह रहा हूँ कि चवन्नी की सदस्यता दूर कर दी जाय। नहीं वह रहने दी जा सकती है, पर एक अलग ठोस सदस्यता होनी चाहिये। यह ठोस सदस्यता गांधी-सेवा-संघ के ढङ्ग पर नहीं, बल्कि वालशेविक पार्टी के ढङ्ग पर होना चाहिये। हाँ, इसमें केवल इतना भेद तो रहेगा ही कि कांग्रेस बहुवर्ग संस्था है और वालशेविक पार्टी वर्ग संस्था। विचारधारागत शिक्षा, राजनीति, इतिहास का कुछ ज्ञान यह सब ऐसे सदस्यों को दिया जाना चाहिये।

१९४२ असफल पहले इतना तो मानो

बात यह है कि १६४२ की नाकामयाबी से फायदा उठाने की मनोवृत्ति का कहीं पता नहीं, फिर फायदा कैसे उठाया जाय? सबसे पहले यह समझ लेना चाहिये कि १६४२ नाकामयाब रहा। अवश्य कोई भी बात निर-वच्छिन्न रूप से नाकामयाब नहीं रहती। १६४२ की क्रान्ति उसी अर्थ मे नाकामयाब रही जिस अर्थ में १६०५ की रूसी क्रान्ति असफल रही।

क्रान्ति असफलता पर पंडित नेहरू

पर पंडित जवाहरलाल नेहरू की तरह महान नेता तो इस बात को विश्वास करने से ही इन्कार कर रहे हैं कि १६४२ असफल रहा।

लखनऊ (१६ जून, १६४५) हिन्दुस्तान टाइम्स के विशेष सम्वाद-दाता से बात करते हुए पंडित जी ने इस सम्बन्ध में कहा था कि असफलता की कोई बात नहीं उठती। अवश्य जैसा कि मैं कह चुका हूँ कि निर-वच्छिन्न अर्थ में कोई भी बात असफल नहीं होती। असफलता में जो नम्बर मिलते हैं, वे बाद को चलकर ईंटा और सुर्खी के रूप में सफलता का निर्माण करते हैं। भला जो व्यक्ति यह मानता ही नहीं कि वह असफल रहा है, वह अपने ढंडे को सुधारने क्यों जायगा ? फिर असफलता जब एक तथ्य है तो यह शब्द किसी के गले में क्यों अटके ? क्या एक असफलता एक वास्तविक सफलता की तरह गौरवजनक नहीं हो सकती ? कभी-कभी हो सकती है। ऐंगेल्स ने लिखा था—"जोर के साथ लड़ाई के बाद जो हार होती है, वह उतने ही महत्व का तथ्य है, जितना कि आसानी से प्राप्त जीत।" जहां पर पराजय की स्वीकृति का अर्थ, निराशा और अकर्मण्यता के वश में चले जाना है, वहाँ पर तो यह व्यक्ति को गिराता है, उसे नैतिक रूप से पतित कर देता है, उसे मार देता है। पर जहाँ असफलता की स्वीकृति का अर्थ यह है कि नये ढङ्ग से कार्य करने का प्रोत्साहन तथा स्फूर्ति वहाँ पर इस स्वीकृति का अर्थ है क्रान्तिकारी जीवन में एक नये पन्ने का उलटना।

१९०५ की क्रान्ति की असफलता पर लेनिन

१६०५ की क्रान्ति पर लिखते हुए लेनिन ने लिखा था—"बड़ी पराजय से ही क्रान्तिकारी दलों को तथा क्रान्तिकारी वर्ग को वास्तविक और हितकर सबक चीजों को बुद्धियुक्त रूप से समझने में मदद, ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद में सबक, राजनैतिक संग्राम को चलाने में योग्यता तथा दक्षता प्राप्त होती है। दुर्दिन में ही मित्रों की पहचान होती है। हारी हुई सेनायें अपना सबक अच्छी तरह सीखती हैं।"

हार, पराजय शब्द से डर की जरूरत नहीं

इस प्रकार हार, पराजय, असफलता शब्द उतने कुछ खराब नहीं हैं। हीनता बोध (Inferiority) से समन्वित दोषी विवेक ही एक व्यक्ति को फावड़े को फावड़ा कहने से रोक सकता है। पुनर्निर्माण का आधार क्रान्तिकारी वस्तुवाद ही हो सकता है। क्रान्तिकारी वस्तुवाद पराजय को पराजय के रूप में स्वीकार करता है और फिर जिन कारणों से पराजय हुई, उनके परिश्रमयुक्त विश्लेषण के बाद वह फिर कार्यक्षेत्र में जुट पड़ता है।

पंडित जी कर्तव्य से परिचित

पंडित जवाहरलाल नेहरू के प्रति न्याय करने के लिये यह बता दिया जाय कि जिस समय वे १९४२ के बाद जेल से छूटे थे, उस समय उनको एक तरह से अन्तरात्मा की तरफ से (क्योंकि यह पूर्ण आत्मचेतनायुक्त नहीं था) आभास था कि सामने कौन से कार्य बड़े हैं जिन्हें करना है। जिस बातचीत का हवाला दिया गया है, उसी में पंडित जी ने यह कहा था—"उनको इस संग्राम से तजर्बे हासिल हुए, और तजर्बे से ही संग्राम के लिये संगठन करना आता है।"

इससे स्पष्ट है कि उस समय पंडित जी कांग्रेस संगठन की कमजोरी से परिचित थे, पर बाद को वे इसके सम्बन्ध में भूल गये। अवश्य संगठन करने में पंडित जी मजबूत नहीं है जैसा कि एक अत्यन्त बुद्धिमान निरीक्षक श्री सम्पूर्णानन्द जी ने उस लेख में बतलाया है जिसका हम उद्धरण दे चुके हैं। पर वे बोलने में प्रवीण है और वे अपनी जबर्दस्त आवाज को कांग्रेस के नये तरीके से संगठन पर उठा सकते थे। अवश्य उस एक दल की लाइन पर नहीं, बल्कि १९४२ के तजर्बे की रोशनी में।

कांग्रेस संगठन दबाव राजनीति के लिये था

जिस समय १९४२ में जनता एक साथ उस पद्धति के विरुद्ध

उठ खड़ी हुई जो प्रतिदिन, प्रतिघड़ी प्रतिमिनट उन्हें पीसे डाल रही थी. उस समय यह देखा गया कि लाखों सदस्यवाली कांग्रेस संस्था एक दिन में ही खतम हो गई। बात यह है इस रूप में कांग्रेस का संगठन दबाव राजनीति की संस्था के रूप में हुआ था, इसलिये क्रान्तिकारी कर्तव्या का सामना होते ही उन क्रान्तिकारी कर्तव्यों का जिनका लाग मुँह से तो खूब जिकर करते थे, कांग्रेस संस्था बिखर गई। फिर लाग यह जो मुँह से भी क्रान्ति की बात कहते थे, वह भी संदिग्ध था क्योंकि यह बात भी आधिदैविक दर्शन की आड़ लेकर की जाती थी।

कांग्रेस के पुनः संगठन के बगैर १९४२ की प्रशंसा धोखेबाजी मात्र

कांग्रेस का नये ढङ्ग पर संगठन वह महान कर्तव्य है जिसके बगैर १९४२ की सारी प्रशंसा धोखेबाजी है और केवल वाक्यों का अपव्यय है।

एक नेता एक दल का नारा जले पर नमक

यह जो प्रस्ताव रक्खा गया है कि कांग्रेस को दबावमूलक राजनीति की एक पार्टी के रूप में तथा गान्धी-सेवा-संघ और चर्खा-संघ के पुछल्ले के रूप में संगठित किया जाय, यह तो महज शरारत पर शरारत है। इससे केवल यही जाहिर होता है कि ऐसी बात करने वाले राजनैतिक रूप से दिवालिया हो चुके हैं और इनमें दूरदृष्टि का सम्पूर्ण अभाव है।

यह 'एक दल, एक नेता' नारा का कहाँ तक गम्भीर अर्थ है, कहाँ तक वामपक्ष के विरुद्ध स्नायुओं की लड़ाई कर उससे घुटने टेकवाने का मन्शा है, कहाँ तक इसका उद्देश्य वामपक्षियों की संख्या घटाना है, कहाँ तक इसका लक्ष्य वामपक्षी दलों के अन्दर की दल-

तोड़क (Liquidationist) प्रवृत्तियों को तगड़ी बनाकर उन्हें अन्दर से खतम करना है, यह सब अभी भविष्य के गर्भ में है।

गान्धी जी के बाद एक नेता कौन

'एक दल, एक नेता' नारे के प्रतिपादकों ने अपने नारे के फलितार्थ को अच्छी तरह सोचकर नहीं देखा है। जब वे एक नेता की बात करते हैं तो वे गांधी जी की बात ही सोच रहे हैं। पर वे यह भूल जाते हैं कि गांधी जी चिरजीवी नहीं हो सकते। कम से कम चिरजीवित्व को आधार मानकर कोई नारा नहीं दिया जा सकता। ये लोग भूल जाते हैं कि गांधी जी ने अपने विशाल व्यक्तित्व के द्वारा बहुत से ऐसे उपादानों को जिनका आपस मे एक मिनट पट नहीं सकता हैं एक सूत्र में सामजस्यपूर्ण तरीके से बाँध रक्खा है, पर जो मौका पाते ही उभरेंगे। इस सम्बन्ध में अधिक ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नही है। इस दृष्टि से देखने पर भी एक नेता का नारा टिकाऊ नहीं है। अवश्य इसका अर्थ यह नहीं कि यह नारा अर्थहीन है। नहीं यह बहुत ही अर्थपूर्ण नारा है। इस नारे का अर्थ यह है कि बामपक्षी कांग्रेस से बाहर जायँ। फजूल की बातों से इसका यह अर्थ छिप नहीं सकता।

एक दल का नारा स्नायुओं की लड़ाई मात्र

कुछ बातों से यह भी जाहिर होता है कि यह 'एक दल, एक नेता' का नारा शायद वामपक्ष के विरुद्ध स्नायुओं की लड़ाई है। शायद ऐसा नारा देने का अर्थ था कि वामपक्ष से आसानी से आत्मसमर्पण कराया जाय। इसके लिये दोष वामपक्ष का ही है। वामपक्ष की नरम वामपक्षता ने बुद्धिमान दक्षिणपंथियों के मनो में यह धारणा उत्पन्न कर दी कि यदि धर के खूब जोर से डाँट-डपट की जाय तो वामपक्षी झट से आत्मसमर्पण कर देंगे। इसी धारणा के वशवर्ती होकर वे एक के बाद एक फरमान निकालते गये और हर

फरमान के बाद वामपक्ष कुछ पीछे हटता गया। इस प्रकार दक्षिण-पक्ष ढीठ और हेकड़ होता गया। आसान जीतों से यह बकवादी हो गया, मामला यहाँ तक बढ़ा कि बूढ़े कृपलानी जी ने वामपक्ष पर सीधे-सीधे हमला कर दिया।

जब धर के डाँट दिया तो पीछे हट गये

इसका नतीजा यह हुआ कि आचार्य नरेन्द्र देव ने बहुत जोरों में इसका प्रत्युत्तर दिया. फिर तो श्री कामठ, सेठ दामोदर स्वरूप आदि भी कूद पड़े। थोड़े दिनों के लिये वातावरण बहुत क्षुब्ध हो गया। श्री केशवदेव मालवीय ने कहा कि जोर की जंग हो जाय और अगली कांग्रेस के मौके पर निपट लिया जाय। पर बेचारे केशव जी बड़ों की बात क्या समझ पाते। और एक सप्ताह के अन्दर श्री कृपलानी जी पीठ दिखाते दृष्टिगोचर हुये। उनका यह पृष्ठ-प्रदर्शन भी कांग्रेस के इतिहास में करुण रस के लिये प्रसिद्ध रहेगा। कृपलानी जी के भागने के समय के बयान से ज्ञात होता है कि किस प्रकार अपनी वैयक्तिक कूटनीति की असफलता से क्षुब्ध तथा घटनाओं ने जो रुख लिख लिया था उससे रुष्ट होने के कारण वे विचलित थे। बजाय इसके कि सीधे से मान लेते कि इस प्रकार वामपक्ष पर आक्रमण करने में वे गलत सलाह से परिचालित हुये थे, उन्होंने सारा दोष रिपोर्टरों के मत्थे मढ़ दिया। उनका बयान करुणारस की रगन है। उन्होंने आहत निर्दोषिता का चेहरा बनाकर इन खराब रिपोर्टरों पर शैतान की फटकार बतलाई। अपनी ट्रेजेडी को सम्पूर्ण करने के लिये उन्होंने अपने हिन्दी-ज्ञान को दोष दिया। उनका बयान इन बातों से भरा था, मैंने ऐसा कहा था और मैंने ऐसा कभी नहीं कहा था। इसके पहले किसी को यह नहीं मालूम था कि महान अहिंसा मुक्केबाजी के आचार्य कृपलानी जी इस प्रकार दुम दबाकर भाग सकते हैं।

पर वामपक्ष असतर्क न हो

पर इस प्रकार जो प्रतिक्रान्ति दुम दबाकर भागी, इससे कोई वामपक्षी असतर्क न हो जाय। प्रतिक्रान्ति अपने पैरों के नीचे की जमीन को टटोल रहा था कि कहाँ तक वह ठहरेगा। प्रतिक्रान्ति ने जब देखा कि चीजे इतनी आसान नहीं है, तो इसने पीठ दिखा दी। यही कहना उपयुक्त है कि प्रतिक्रान्ति पीछे नहीं हटी, बल्कि वह जमीन के नीचे चली गई है। वहां पर अँधेरे में बैठकर वह अपनी प्रयोगशाला में काम कर रही होगी और वह एकाएक असतर्क वामपक्ष पर अपना ऐटम बम छोड़ देगी। कृपलानी जी के पृष्ठप्रदर्शन से वामपक्ष का वह हिस्सा जो दल तोड़क और नरम है अब पश्चात्तापग्रस्त है कि हाय यह झगड़ा क्यों मोल लिया। वे एक पारिवारिक पुनर्मिलन के लिये तैयार हैं। यह आत्मसन्तुष्ट रूख बहुत ही भयंकर तथा खतरनाक है।

कम्युनिस्ट पार्टी के विरुद्ध हमला केवल आड़ में वामपक्ष पर हमला था

प्रतिक्रान्ति के लिये कांग्रेस के भीतर से कम्युनिस्ट पार्टी का निकाला जाना १९४२ में इस पार्टी द्वारा की गई गद्दारियों की सजा उतना नहीं था जितना कि यह कांग्रेस के अन्दर मे मार्क्सवादियों तथा वामपक्षियों को निकालने का श्रीगणेश था। पर 'एक, दल नेता' के भक्तों को यह नहीं भूलना चाहिये कि अबकी बार उनके सामने जो काम है वह बहुत ही कठिन है।

कम्युनिस्ट पार्टी की बात और थी

कम्युनिस्ट पार्टी की बात और थी। १९४२ की गद्दारियों के कारण यह जनता की घृणा की पात्री बन चुकी थी। पर वे समाजवादी तथा अन्य वामपक्षी जो १९४२ के संग्राम के पुरोभाग में थे, उनकी

बात अलग है। यह सच है कि भारतीय जनता गान्धी जी, नेहरू जी, पटेल, राजेन्द्र बाबू और अन्य लोगों से प्रेम करती है, किन्तु इस बीच में सुभाष बाबू, जयप्रकाशनारायण, अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफ अली, योगेश चटर्जी, योगेन्द्र शुक्ल, विशेषकर मेजर जेनरल शाहनवाज आदि आजाद हिन्द फौज के वीरों सहित श्री सुभाष जनता के हृदय पर अधिकार कर चुके हैं।

अन्य पार्टियों को निकालना टेढ़ी खीर

जिस समय कम्युनिस्ट पार्टी को काँग्रेस के अन्दर से लात मार कर निकाल दिया गया, जनता के भाव जगत में किसी प्रकार के संकट की सूचना नहीं हुई सच बात तो यह है कि जनता की ही तरफ से माँग आ रही थी कि कम्युनिस्टो को निकालो। पर यदि दबाव राजनीतिज्ञ 'एक दल, एक नेता' के नारे को उसके तार्किक उपसंहार तक ले जाने की जिद्द करें, तब तो जनता के सामने एक विकट संकट आ जायगा। उसके लिये दोनों में से एक को चुन लेना आसान न होगा। ऐसी हालत मे भी यदि संकट जबर्दस्ती लाया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि इस कर्तव्य-संकट में किसी निर्णय पर पहुँचने में असमर्थ रह कर जनता फिर मोहनिद्रा में लौट सकती है। अनिर्णय से निष्क्रियता आती है।

वामपक्ष को निकालना जनता पर जब्र होगा

अवश्य ही हमारे यहाँ की पिछड़ी हुई जनता से वर्तमान समय में यह आशा नहीं की जा सकती है कि वे इन दोनों में से किसे अपनाना है इस सम्बन्ध में कोई साफ-साफ निर्णय करें। इस लिये ऐसी परिस्थिति का सामना होने पर वे घबड़ा जायेंगे। ऐसी हालत में सम्भव है राजनीति पर ही उनकी अरुचि हो जाय। इस प्रकार बीसियों वर्ष के किये-कराये पर पानी फिर जायगा। यह अवश्य ही बहुत दुःख की बात होगी, पर इससे क्या ! इस अवस्था के उत्पन्न

से उन लोगों को आशंका क्यों होने लगी जिन्होंने मन ही होने यह शायद तय कर लिया हो कि भविष्य में नाम लेने योग्य कोई जन संग्राम नहीं करता है।

क्या वामपक्ष हमले के लिये तैयार हैं

यदि प्रतिक्रान्ति फिर भी तय करे कि संकट उत्पन्न करना है, तो प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार उत्पन्न अवस्था का सामना करने के लिये वामपक्षी तैयार हैं? अवश्य ही वे दक्षिणपथियों के मुकाबले में कमजोर हैं। थोड़े से शासन-सुधारों के टुकड़े जनता को रोटी नहीं दे सकते जैसा कि लेनिन ने विगत महायुद्ध के बाद कहा था कि "केवल समाजवाद ही युद्ध से थकी हुई जनता को रोटी और आजादी दे सकता है"। पर रोटी भले ही न दे सकें दबाव-राजनीतिज्ञ जनता का आध्यात्मिक सर्कस तो दे ही सकते हैं। जो शासन सुधार मिलेंगे, उनसे निम्न मध्यवित्त श्रेणी के लोगों को कुछ नौकरिया भी मिलेंगी। ये सब लक्षण अच्छे नहीं है।

और वामपक्ष को जोर दिया जाय, न कि मैं-मैं

पर जो कुछ भी हो प्रतिक्रान्ति का सामना तो करना ही है। कांग्रेस अवसरवादियों के घिनौने कार्यों तथा धूर्ततापूर्ण वाक्यों का शिकारगाह होने जा रही है इससे समाजवादियों तथा वामपक्षियों को घबड़ाने की जरूरत नहीं। इसकी दवा यह नहीं है कि वामपक्षी यह प्रमाणित कर दबाव-राजनीतिज्ञों की आंखों में सुर्खरूह होने की कोशिश करें उनमें और दबाव-राजनीतिज्ञों में कोई फरक नहीं है, बल्कि इसकी दवा यह है कि अपने समाजवाद और वामपक्षता पर जोर दिया जाय।

प्रतिक्रान्ति तगड़ी होने पर भी क्यों पीछे हटी

जैसा कि मैं बता चुका हूँ कि प्रतिक्रान्ति सामयिक रूप से जमीन के नीचे गई है। इसका क्या कारण है कि प्रतिक्रान्ति बहुत तगड़ी होते

हुए भी पीछे हट गई ? इसने यह पैंतरा इसलिये किया कि यह भविष्य के विषय में निश्चित नहीं है। यदि मिलने वाले शासन-सुधार बिलकुल तत्वहीन हों तब तो फिर इसे मजबूरी से एक संग्राम का दिखावा करना पड़ेगा। अवश्य जैसा कि श्री सम्पूर्णानन्द ने कहा है महीनों पहले से क्रान्ति को अपांक्तेय करार दिया जायगा और 'संग्राम' को शराफत के दायरे में रक्खा जायगा। संग्राम बल्कि संग्राम के दिखावे की संभावना के कारण इस समय प्रतिक्रान्ति निर्णयात्मक रूप से वामपक्षियों से झगड़ा कर अलग कर देने की हिम्मत नहीं कर रही है क्योंकि यदि संग्राम का दिखावा करना है तो उस हालत में वामपक्ष वाले अच्छी मदद साबित हो सकते हैं। पर इस बात की अधिकतर संभावना है कि जो शासन सुधार प्राप्त हों वे दक्षिणपंथियो की पार्टी को पसन्द आवे। उस हालत मे जो प्रतिक्रान्ति जमीन के नीचे चली गई है, वह प्रलयंकर-वेग मे निकल कर क्रान्ति की शक्तियों पर हमला करेगी।

क्या वामपक्षी तथा समाजवादी संयुक्त मोर्चा बना सकेंगे?

यदि यह नौबत आ ही गई तो क्या यह संभव होगा कि सब समाजवादी तथा वामपक्षी दल एक होकर इसका सामना करे? इतिहास का सबक तो हमारे सामने है। यदि जर्मनी कम्युनिस्ट और सोशल डिमोक्रैट पहले ही एक हो जाते—हम यह नहीं कह रहें हैं कि दोनो पार्टियाँ एक हो जाती, तो क्या कदाचित न तो नात्सीवाद शक्ति आरूढ़ ही होता और न द्वितीय साम्राज्यवादी महायुद्ध की ही नौबत आती। यूरोप के इन वामपक्षी दलों ने उस समय जो कुछ सीखने से इनकार किया, जब कि सीखने से मानवता महान विपत्ति से बच जाती, उन्होंने बाद को नात्सी सरकार के विरुद्ध प्रतिरोध (Resistance) आन्दोलनों में सीखा। यदि वामपक्षी तथा समाजवादी दल कांग्रेस से निकाले जायँ, तो क्या वे उस हालत में एक

हो सकेंगे।

वामपक्षी एकता और आत्म समालोचना

मैं यह नहीं कहता कि ये दल अपने पृथक अस्तित्वों को मिटा दें, और एक दल में परिणत हो जायँ। अवश्य ऐसी कार्यपद्धति के मार्ग में बहुत भयंकर रोड़े है, फिर जिन पार्टियों को विचार धारा करीब करीब एक हैं, उनकी एक पार्टी हो जाना भी संभव होना चाहिये। प्रत्येक वामपक्षी तथा समाजवादी दल के सज्ञान सदस्यों का भी एक कर्तव्य है, उन्हें यह सोचना है कि कहां तक उनकी पार्टी विचारधारा-गत कारण से और कहां तक इसके नेताओं के व्यक्तिगत उच्चाकांक्षा के कारण यह पृथक रहना अस्तित्व है।

कुछ भी हो व्यवहारिक एकता आवश्यक

किसी हालत में इन दलों में एक व्यवहारिक तथा कार्यगत एकता की आवश्यकता है, नहीं तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा देशी पूँजीवादी वर्ग चक्की के इन दो पाटों के बीच में पड़कर वे खतम हो सकते है और इस प्रकार भारत में फासिवाद के उदय के लिये मार्ग प्रशस्त हो जा सकता है। सच तो यह है कि वामपक्षी दलों में एका नहीं हो सकता इसी बात को मानकर ही शायद दक्षिणपक्ष को वामपक्ष पर अपने प्रतिक्रान्तिकारी हमले में बल मिलता है। यदि सुभाष बाबू प्राप्त होते तो उनके महान व्यक्तित्व की छत्रछाया में वामपक्षी एकता अधिक आसान होती, पर दुर्भाग्य से हमें केवल उनका उदाहरण प्राप्त है न कि उनका व्यक्तित्व, वह व्यक्तित्व जो भारतीय जनता की आंखों में गान्धी जी के बराबर महत्वपूर्ण हो चुका है।

रामगढ़ समझौता विरोधी कानफरेन्स का आदर्श

यदि दक्षिणपक्षी कांग्रेसीगण लोगों को कांग्रेस छोड़ने पर मजबूर करे, तो समानान्तर कांग्रेस किस प्रकार हो सकती है, इसका एक आदर्श रामगढ़ की समझौता विरोधी कांग्रेस के रूप में हमारे सामने

मौजूद है। यह कानफरेन्स बहुत ही सफल रही। चाहे आदर्श होता या न होता वामपक्षी एकता तो कायम करना ही है।

वामपक्षी अनैक्य से घबड़ाने की बात नहीं

पर फिर भी यहाँ के वामपक्षियों में एका का जो अभाव है, उससे हमें हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं। क्रांति के पहले रूस की यही हालत थी। कुछ लोग जो दूर से बैठ कर इस तू तू मैं-मैं को देख रहे थे इसको बहुत तूल देते थे। पर लेनिन ने कहा था, "द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय के उन पंडित मूर्खों तथा बुड्ढों ने जिन्होंने रूसी समाजवादी दलों के झगड़ों तथा तू-तू मैं-मैं पर घृणा से तथा गुस्ताखी से नाक चढ़ा रक्खा था, जब लड़ाई आई तो वे खुद कहीं के नहीं रहे और जिन को वे घृणा से देखते थे, उन्होंने सब कुछ कर लिया।"

वामपक्षी अनैक्य के बावजूद रूसी क्रान्ति नहीं रुकी

इसलिये भारत के वामपक्षियों और समाजवादियों में जो तू-तू मैं-मैं है, उससे किसी दबाव राजनीतिज्ञ की बाछें खिलने की जरूरत नहीं। इस अनैक्य के बावजूद रूसी क्रांति रुकी नहीं। जो दलतोड़क तथा घुटना टेकने के पक्षपाती लोग हैं उन्हें इस अनैक्य का फायदा उठाकर वामपक्ष को डर दिखाना फजूल है।

वामपक्षी कांग्रेस संभव होनी चाहिये

यदि वामपक्षी तथा समाजवादीगण कांग्रेस से निकाले ही गये, तो उनके लिये यह सम्भव होना चाहिये कि वे अपनी एक कांग्रेस बनावें। मुझे निश्चय है कि जनता अवश्य ही इसका खूब पृष्ठपोषण करेगी। रही पत्र-पत्रिकायें, सो वामपक्ष को अपने-अपने अखबार निकालने पड़ेंगे। अवश्य ही वामपक्षी अखबारों का टाटा या बिड़ला समर्थन नहीं करेंगे। फिर भी हमें विश्वास है कि शुरू से ही वे अपने पैर पर खड़े हो सकेंगे और बाद को खूब चलेंगे।

वामपक्षी कांग्रेस के टुकड़े करने के विरुद्ध

यह स्मरण रहे कि वामपक्ष कांग्रेस के टुकड़े करना नहीं चाहता। ऐसे समय अवश्य होते हैं जब अलग होने की ही जरूरत होती है, पर यह अलग होना उस तरह का नहीं है। सच तो यह है कि वामपक्षियों तथा समाजवादियों को भरसक कांग्रेस को टुकड़े होने से बचाना चाहिये। पर इस भरसक में यह बात नहीं आती कि समाजवादी कांग्रेस का ऊपरी एका कायम रखने के लिये अपना समाजवाद छोड़ दें।

ऊपरी एकता या सिद्धान्त?

लेनिन के सामने भी यह प्रश्न आया था कि सङ्गठन को ज्यों का त्यों रख बचाया जाय। सच तो यह है कि जर्मनी के समाजवादियों ने पार्टी की ऊपरी (Formal) एकता कायम रखने के लिये अपने समाजवाद को ही तिलांजलि दे दी। पर लेनिन ने बराबर इस प्रकार के रुख में अन्तर्निहित मौकावाद को स्पष्ट किया। वे बराबर सिद्धान्त के दामों पर मेल के विरुद्ध लड़े।

नये कर्तव्य, नई संस्थायें

१९१४ के १४ अक्टूबर को लेनिन ने कहा, "नये कर्तव्यों को दृष्टि में रख कर हमें नये सङ्गठन तैयार करने पड़ेंगे या पुराने सङ्गठनों को बदलना पड़ेगा। पुराने सङ्गठन को बिखरा डालने का जो भय है और जो सोशल डिमोक्रैटों में पाया जा रहा है बिलकुल निकम्मा और लचर है।" १९१४ के पहले नवम्बर को लेनिन ने और भी कहा कि द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का बिखर जाना मौकावाद का बिखर जाना होगा। फिर १९१४ के दिसम्बर में उन्होंने कहा, "इसके १५ साल पहले जब इस वाद-विवाद का सूत्रपात हुआ था, उस समय यहीं कोटस्की ने लिखा था कि यदि मौकावाद एक पालिसी से भी आगे बढ़ कर भावुकता तक में पैठ जाय, तो उस हालत में सङ्गठन

के टुकड़े कर देना ही उचित होगा।" गोलोस (आवाज) नामक पत्र ने म रगनौफ से यह उदाहरण दिया था कि "मैं संठगन के टुकड़े करने (Splits) के विरुद्ध पर यदि संगठन को कायम रखने के लिये सिद्धान्तों की हत्या होती हो तो मै उस झूठे एके मे संगठन के टुकड़े होना पसन्द करूँगा।"

यहाँ की समस्या और आसान

यहाँ पर यह स्मरण रहे कि लेनिन ने इन सब बातों को एक समाजवादी संगटन के दो टुकड़े किये जाने के सिलसिले में कहा था। फिर जब प्रश्न यह है कि समाजवादी एक बहुवर्ग संस्था से अलग किये जाने पर क्या करें, तब तो समस्या बहुत ही सीधी है। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं इसके पक्ष में हूँ कि दो कांग्रेस हो जायँ। बिलकुल नहीं। जैसा कि मैं कह चुका हूँ इस विभाजन को रोकने के लिये वामपक्षियों को अन्तिम सीमा तक जाना चाहिये। जनता को यह समझ लेने देना चाहिये कि वामपक्षी कांग्रेस का बटवारा नहीं चाहते थे। वे तो इस समय केवल जीना और जीने देना चाहते हैं। जनता को यह समझ लेने देना चाहिये कि वामपक्षीगण कांग्रेस के अन्दर कोई नई बात करना नहीं चाहते बल्कि जिस आधार पर वे अब तक थे, उसी पर आगे रहना चाहते हैं।

जीवित शरीर में निष्काशन की प्रक्रिया कार्यशील

वामपक्षी तथा समाजवादीगण इस बात को अच्छी तरह जानते है कि भविष्य मेहनतकश जनता तथा उनके दलों के हाथों में रहेगा इसलिये उन्हें किसी सांगठनिक चालाकी की जरूरत नहीं है। वे यह जानते हैं एक जीवित शरीर में निष्काशन की प्रक्रिया हर समय क्रियाशील है और अस्वीकृत तत्वों का बराबर निष्काशन होता रहता है।

पर कभी-कभी जुल्लाब भी, फिर भी

अवश्य किसी-किसी समय इस विष-निष्काशन की स्वाभाविक प्रक्रिया को द्रुतिकृत करने के लिये जुल्लाब की जरूरत होती है, पर जुल्लाब ऐसा नहीं होना चाहिये कि अवाञ्छित तत्वों के बजाय रोगी खून की उलटी करने लगे। कम्युनिस्टों को निकालने की क्रिया जुल्लाब देने के बराबर थी, बात यह है कथित कम्युनिस्टों ने अपनी गद्दारियों तथा साम्राज्यवादी कार्रवाइयों के द्वारा अपनों को कांग्रेस के शरीर के अन्दर विदेशी उपादान बना दिया था। इस प्रकार इनके रहने से शरीर में मवाद ही पैदा होता था और कष्ट ही मिलता था। इनकी मौजूदगी के कारण कांग्रेस का सारा शरीर ही एक भयंकर घाव सा होता जा रहा था। यह ठीक ही था कि इस प्रकार कष्ट देने वाले उपादान को एक भयंकर जुल्लाब देकर निकाल दिया गया।

वामपक्षियों को निकालने पर कांग्रेस दूसरी चीज हो जायगी

पर १९४२ में जिन वामपक्षियों ने गौरवजनक हिस्सा लिया, उनको निकालने की बात करना ऐसे ही है जैसे किसी शरीर के सब अच्छे खून को पम्प कर निकालने का प्रस्ताव किया जाय। यह मूर्खतापूर्ण, शरारत भरा तथा आत्मघात तुल्य होगा। इसके माने यह होगा कि आगे कांग्रेस साम्राज्यवाद विरोधी जनमोर्चा के रूप में खतम हो जायगा। अवश्य यह वर्तमान कुओमिन्तांग की तरह जी सकती है, याने जैसे वह जनता की संस्था नहीं जनता पर संस्था है, वैसे ही कांग्रेस भी हो जायगी।

पार्टियों के अस्तित्व पर श्रीमती नायडू

अवश्य सभी दबाव राजनीतिज्ञ कांग्रेस को दक्षिण दल की एक पार्टी के रूप में संगठित करना चाहते हों यह बात नहीं। उदाहरणार्थ श्रीमती नायडू को लिया जाय। १९४५ की ५ जनवरी को इस पर जोर देती हुई कि प्रत्येक पार्टी को देश के अन्दर काम करने का अधिकार

होना चाहिये श्रीमती नायडू ने कहा था—"प्रत्येक दल को चाहे वह सही हो या गलत, इस बात का पूर्ण अधिकार है कि वह अपने विचारों का प्रचार करे। उसी पार्टी का देश में चलेगा जो जनता की सेवा में सबसे तगड़ी साबित होगी।"

"मैं समझती हूँ कि किसी पार्टी से डरना कमजोरी की बड़ी भारी स्वीकृति होगी। यदि तुम स्वयं तगड़े हो तो तुम्हें किसी से नहीं डरना चाहिये। तुम्हें यह कहना चाहिये 'सब पार्टियाँ आवें, मैं उन्हें अकेला ले लूँगा।' यही सही रुख है। सब पार्टियों में मेरे मित्र हैं। कांग्रेस की एक नेत्री की हैसियत से मैं सब पार्टियों को कांग्रेस के मत पर लाने की चेष्टा करूँगी। वह मेरे काम का एक हिस्सा है।"

क्या श्रीमती नायडू अब भी इसी मत की ?

ऐसा श्रीमती नायडू ने कथित कम्युनिस्टों के निकाले जाने के सिलसिले में कहा था। वामपन्थी तथा समाजवादी दलों के निकाले जाने के प्रश्न पर वे कहाँ तक अपने कथन पर डटी रहेंगी इसमें सन्देह है। किसी भी हालत में इस तलवार झनझनाने के बावजूद कांग्रेस की नेताशाही में नहीं तो उसके इर्दगिर्द ऐसे उपादान मौजूद हैं जो वास्तविकता को समझते हैं। गान्धी जी का असली मत भी अज्ञात है।

गांधी जी पार्टियों पर नाज करते थे

ऐसा समय था जब गांधी जी को कांग्रेस के अन्दर की इन पार्टियों पर गर्व था और वे कांग्रेस के अन्दर लोकतंत्र है इस बात के प्रमाण के रूप में ही कांग्रेस में इन पार्टियों का होना बतलाते थे। उन्होंने १९४३ की १५ मई को आगा खाँ प्रासाद से लार्ड सेम्युअल को लिखा था :—

"आपने कांग्रेस पर यह आरोप लगाया है कि कांग्रेस Totalitarian है क्योंकि विगत कांग्रेस मंत्रिमंडलों पर कांग्रेस का नियंत्रण

रहता था। क्या अन्यत्र सफल पार्टियाँ भी इसी प्रकार का नियंत्रण रखती हैं मुझे डर है कि जब लोकतंत्र पूर्ण परिपक्वता को पहुँच चुका है, पार्टियाँ चुनाव लड़ेंगी और पार्टियों की कार्यसमितियाँ अपने सदस्यों के कार्यों तथा नीतियों को नियंत्रित करेंगी कांग्रेसजनों ने पार्टी यंत्र से स्वतन्त्र रूप से चुनाव में हिस्सा नहीं लिया था। उम्मीदवारों का चुनाव कांग्रेस ने किया था और अखिल भारतीय नेताओं ने उनकी सहायता की थी। आक्सफोर्ड जेबी डिक्शनरी के अनुसार टोटालिटै-रियन शब्द का अर्थ 'ऐसी पार्टी से जो कोई भी प्रतियोगी पार्टी या पार्टियों को सहन नहीं करती।' टोटालिटैरियन राष्ट्र का अर्थ उस राष्ट्र से है जिसमें एक ही शासक दल है। ऐसे दल के पृष्टपोषण के लिये हिंसा होनी चाहिये। इसके विपरीत एक कांग्रेस सदस्य उतना ही स्वतन्त्र है जितना कि राष्ट्रपति या कार्यसमिति का कोई सदस्य। स्वयं कांग्रेस के अन्दर पार्टियाँ हैं। सर्वोपरि कांग्रेस हिंसा का परित्याग करती है। इत्यादि।

गांधी जी के अनुसार पार्टियां लोकतंत्र की परिचायक

इस प्रकार स्वयं गान्धी जी का ही कहना था कि कांग्रेस के अन्दर विभिन्न पार्टियों का होना उसके अन्दर के लोकतंत्र का परिचायक है। क्या वे इस से अब इनकार कर पीछे हट जायेंगे? कौन जाने सत्य और अहिंसा का रहस्यवाद सब कुछ सम्भव कर सकता है। गांधी जी की तर्क प्रणाली का अनुसरण कर यह कहना पड़ता है कि कांग्रेस एक टोटालिटैरियन संस्था हो जायगी, यदि उसके अन्दर की पार्टियों को निषिद्ध कर दिया जाय। पर उनके चेले तो इस समय इसी का सुख-स्वप्न देख रहे हैं।

वामपक्ष में बड़े व्यक्तित्व जिनकी अवहेलना असम्भव

वामपक्षीगण भले ही अपने को अल्पबल समझें पर जैसा कि मैं बता चुका कि वे इतने कमजोर नहीं हैं जितना कि वे अपने को

समझते हैं। उन वामपक्षी व्यक्तित्वों के अतिरिक्त जो १६४२ में जनप्रिय हुये, वामपक्ष में ऐसे-ऐसे नेता हैं जैसे आचार्य नरेन्द्र देव, सम्पूर्णानन्द, शार्दूलसिंह, डङ्कर, कामठ, शोनभद्र याज्ञी, अहमद दीन डान्डेकर, प्रतुल गांगुली, रमेश आचार्य, त्रैलोक्य चक्रवर्ती, अशरफुद्दीन चौधरी, अशोक मेहता, दामोदर सेठ, विशम्भर दयाल त्रिपाठी, विष्णुशरण दुबलिश, सत्यरंजन बख्शी, लालाराय, राजकुमार सिनहा, राजदेव सिंह, शंकरलाल, विपिन गांगुली, चन्द्रभान गुप्त, हरिहरनाथ शास्त्री, राजाराम शास्त्री, यमुना कार्पी, कमलापति त्रिपाठी, शौकत उस्मानी, सोमेन टागौर, पुरुषोत्तम त्रिकमदास, सहजानन्द, वंशीधर मिश्र, स्वामी भगवान, शिवनाथ बनर्जी, प्रेमकृष्ण खन्ना इत्यादि हैं। जनता में इनकी जनप्रियता बहुत अधिक से लेकर मामूली तक है। इनमें उग्र से उग्र लेकर अपेक्षाकृत कम उग्र लोग भी हैं, पर किसी भी हालत में यदि जबर्दस्ती कांग्रेस से वामपक्षी निकाले जायँ तो ये सबके सब शायद वामपक्ष का ही साथ दें।

प्रतिक्रान्ति साम, दान, भेद से काम लेगी

इनमें से कुछ तो प्रथम श्रेणी के नेताओं की तरह प्रसिद्ध हैं। इन्हें कांग्रेस से निकालना टेढ़ी खीर है। इसलिये सम्भव है कि प्रतिक्रान्ति इन्हें सीधा-सीधा निकालने के बदले इनमें कुछ साम, दान तथा भेद से काम ले। सम्भव है कि एक साथ एक पार्टी को निकालें, ताकि जिस समय फारवर्ड ब्लाक को निकालें, उस समय कांग्रेस समाजवादी उदासीन रहे इत्यादि। सच तो यह है कि यही वह परम नीति होगी जो वामपक्ष के विरुद्ध इस्तेमाल की जायगी।

किसी महत्वपूर्ण वामपक्षी नेता का राष्ट्रपति

मैंने यह पहले ही बतलाया है कि समय-समय पर दक्षिणपक्ष वामपक्ष वालों पर जो स्नायुओं की लड़ाई चलाता है, वह वामपक्ष

को घुटनां टेकवाने के लिये है। पर इसमें असफल रहने पर वे खुशामद से काम ले सकते हैं। उदाहरणार्थ वे किसी अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण वामपक्षी को राष्ट्रपति की गद्दी दे सकते हैं या इस स्वर्ण सुयोग को देखकर उनके सामने शीघ्र इसकी सम्भावना दिखा सकते हैं और इस प्रकार उनमें फूट पैदा कर सकते हैं। दूसरे छोटे वामपक्षियों के सन्मुख वे अन्य छोटे-छोटे प्रलोभन पकड़ सकते हैं। इनसे सावधान रहना चाहिये।

पदों से वामपक्ष का कुछ पतन संभव

रहा असली वामपक्ष, उसे डराया नहीं जा सकता। शिमला कान्फरेन्स से लेकर समय-समय पर वामपक्ष पर जो स्नायुओं की लड़ाई बोली गई है, उनसे उसके स्नायु और मजबूत हुये हैं। कांग्रेस से निष्काशन की धमकी से वे डर नहीं सकते। पर यह मानना पड़ेगा कि राष्ट्रपतित्व तथा दूसरे पदों के प्रलोभन से वामपक्ष को बहुत कुछ गिराना सम्भव है।

वामपक्ष का ऐसा पतन क्यों संभव ?

वामपक्ष को इस प्रकार गिराना इसलिये सम्भव है कि जैसा मैंने बारबार कहा है कि भारतवर्ष में वामपक्ष तथा समाजवादी दलों की जड़ें मेहनतकश वर्गों में उतनी गहराई तक पहुँची हुई नहीं है। जब तक यह कमी रहती है जब तक कि मेहनतकश वर्ग अपने अन्दर से नेता पैदा नहीं कर पाते, संक्षेप में जब तक कि भारत में जैसे रूस में बालशेविक पार्टी है उदित बल्कि विकसित नहीं होती, तब तक यह खतरा रहेगा।

मेहनतकश वर्ग से सम्बद्ध होते हुए लेबर आदि पार्टी गद्दार

यहाँ तक कि जिन देशों में वामपक्षी दलों को जैसे इङ्गलैण्ड में लेबर पार्टी की जड़ें गहराई तक मेहनतकश वर्ग में हैं, वहाँ भी ऐसी पार्टियाँ मेहनतकश वर्ग के साथ धोखा करती हैं और उनमें भी देखा

गया कि वे शिथिल आधे हृदय से किये गये तरीकों (Half-measures) पर विश्वास रखती है। यह इसलिये सम्भव होता है कि उनकी नेताशाही को तथा मेहनतकश वर्ग के उच्चतर तबकों को औपनिवेशिक लूट से घूस दिया जा रहा है।

भारत में खतरा अन्य जगह से

भारत के पास कोई उपनिवेश नहीं है और यहाँ उनकी लूट से समाजवादियों को घूस देने की सम्भावना नहीं है पर यहाँ खतरा दूसरा ही है।

यहाँ खतरा यह है कि यद्यपि मेहनतकश वर्ग में साम्राज्यवाद के विरुद्ध संग्राम की भावना तो उत्पन्न हो चुकी है और वे साम्राज्यवादी शुओं के खतरों से परिचित हो चुके हैं पर वे अभी तक देशी पूँजीवादी वर्ग की चालाकियों से परिचित नहीं हुये हैं, जो मौका पाते ही विदेशी साम्राज्यवाद के जूतों में पैर डालने के लिये तैयार है। इसी कारण तो इसकी सम्भावना है कि वामपक्षी तथा समाजवादी संस्थायें इनके द्वारा खरीद ली जायँ और जनता को कानोकान इसकी खबर भी न हो।

विशेष कर दो कारणों से यह खरीदा जाना बहुत सम्भव हो जाता है। एक तो यह कि ये दल सौ फीसदी मेहनतकश वर्ग के नहीं है, दूसरा यहां का मेहनतकश वर्ग अभी अच्छी तरह जागृत नहीं है।

प्रतिक्रान्तिको परास्त करनेकी भार अन्त तक खुद जनता पर

इसलिये प्रतिक्रान्ति को परास्त करने का गुरु भार अन्त तक मेहनतकश वर्ग के सज्ञान हिस्से तथा बुद्धिजीवी वर्ग के नौजवानों तथा छात्रों के उस हिस्से पर है जो किसी न किसी कारण से स्ववर्गत्यागी होकर अपनों को मेहनतकश वर्ग के साथ कर चुका है। स्वतंत्रता का मूल्य चिरन्तन सावधानता है।

सावधानी की परम आवश्यकता

भारतवर्ष अभी एक वास्तविक मेहनतकशों के दल को विकसित करने में लगा है प्रत्येक व्यक्ति इस विकास में सहायक हो सकता है बशर्ते कि आँख, कान बन्द न कर दे तथा सावधान रहे। यह सावधानी केवल गान्धी सेवा संघ के सम्बन्ध में नहीं, बल्कि वामपक्षी दलों के कार्यक्रमों तथा व्यक्तियों तक विस्तृत होना चाहिये। बहुत से प्लेखनौफ, कौटस्की तथा बर्नस्टाइन लेनिन के रूप में चल रहे होंगे, इन्हें उखाड़ फेंकना है।

वर्तमान वामपक्ष पर ही आशा

इस बीच में जो कुछ वामपक्षी तथा समाजवादी दल है उन्हें पतन से बचाना है क्योंकि आसमान से तो कोई एक एकप्रस्तर और विचार-धारा की दृष्टि से सम्पूर्ण रूप से ही पार्टी नहीं निकल आयेगी। इन्हीं पर्टियों में से सम्भव है सभी में से कुछ-कुछ लेकर वास्तविक रूप से सही पार्टी का उदय होगा। इसलिये जहाँ तक हो इन पर्टियों का सम्बन्ध अकाट्य कटमुल्लापन से बचना चाहिये। फिर काम चलाऊ तरीके से वामपक्षी एकता का तकाजा भी यह है एक दल दूसरे दल की अधिक निन्दा न करे।

दक्षिणपक्ष वामपक्षी पार्टियों को लड़ाता है

दक्षिणपक्ष इस बात की बहुत कोशिश करेगा कि इन दलों का एक के विरुद्ध दूसरे को शह दिया जाय जैसा कि यह उस समय जब कि कम्युनिष्ट पार्टी कांग्रेस में थी, इसे दूसरी पार्टियों के विरुद्ध शह दिया तथा उपयोग किया करती थी। अवश्य प्रत्येक वामपक्षी दल चुपके से अपने को रूस की वालशेविक पार्टी की तरह समझे तो कोई बात नहीं। पर इस विश्वास को इस प्रकार व्यक्त न किया जाय कि दक्षिणपक्ष वामपक्षी दल का दूसरे वामपक्षी दल के विरुद्ध उपयोग कर सके। सब वामपक्षी दलों के लिये यह सम्भव होना

चाहिये कि प्रतिक्रान्ति के हमले के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा पेश करे।

कथित कम्युनिस्ट भी कभी आ सकते हैं ?

मैं तो इस बात को भी बिलकुल असम्भव नहीं समझता कि एक दिन कथित कम्युनिस्ट पार्टी भी वामपक्षी शक्तियों में आकर सम्मिलित नहीं होती। इसमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर हो रही है जिससे सम्भव है कि यह अपना वर्तमान रोमैन्टिक-एडवेंचरिस्ट गद्दार भाग छोड़ दे जो इसे एक बन्द गली से दूसरा बन्द गली में लिये जा रहा है। मैं एक अपराजेय आशावादी हूं और मैं यह समझता हूँ कि या तो ये वामपक्षी शक्तियों में आकर सम्मिलित होगें, या इनका सम्पूर्ण रूप से सर्वनाश हो जायगा। इस पार्टी के अन्दर के बहुत से लोग इसके लिये भविष्य के सम्बन्ध में सचमुच चिन्तित हैं। वे यह समझते हैं कि यदि पार्टी उस मार्ग से छुटकारा न करा सकी जो उसे संग्रामशील जनता से क्रमशः दूर लेता चला गया है तो उनका खातमा है। इस पार्टी के वर्तमान नेतागण ऐसे गोबर-दिमाग लोग हैं जिनकी तुलना जगत के इतिहास में कम मिलेगा।

कम्युनिस्टों की परस्पर विरोधी नीति

ये लोग सोवियट रूस से सचमुच प्रेम करते हैं पर इन लोगों ने अपनी गलत नीतियों से भारतियों की आँखों में रूस को जितनी क्षति पहुँचाई है इतनी किसी ने नहीं पहुँचाई उन्होंने पाकिस्तान की जो व्याख्या की उसे मुस्लिम लीग ने घृणा के साथ ठुकरा दिया, पर फिर भी वे मुस्लिम लीग के उम्मीदवारों के पक्ष में रहे। (कहीं मुझे गलत न समझा जाय इसलिये मैं यहाँ पर यह बात कोष्टक में साफ कर दूँ कि न तो मार्क्सवाद का सिद्धान्त ही और न रूस में उसका मूर्त रूप ही अखंड हिन्दुस्तान नारे का समर्थन करता है। अवश्य ही भारत एक बहुजाति देश है और भारत की किसी भी जाति को वह चाहे प्रमुख रूप से हिन्दू या प्रमुख रूप से मुसलमान

जाति हो उसे अलग हो जाने के विन्दु तक आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाना चाहिये और यदि उस भूभाग के सब निवासियों के वोट से यह साबित हो कि वे अलग होना चाहते हैं तो उन्हें अलग हो जाने देना चाहिये। फिर कथित कम्युनिस्ट पार्टी ने यह कह कर कांग्रेस छोड़ा कि वह फासिवादी हो चुकी है फिर उसने उन हिन्दू सीटों में जहाँ उनके अपने उम्दीवार नहीं खड़े थे कांग्रेस उम्मीदवारों का समर्थन किया, तो यह क्या बात है ? क्या एक मार्क्सवादी के कोष में फासिवादी से भी खराब कोई शब्द है ? फिर एक 'फासिवादी संस्था' के द्वारा खड़े किये गये लोगों का समर्थन कैसे किया गया ?

कम्युनिस्ट अजीब गड्ढे में

इस प्रकार जहाँ से भी जरा सा विश्लेषण कीजिये यह ज्ञात होगा कि कथित कम्युनिस्टों ने बुद्धि और तर्क से बिलकुल ही नाता तोड़ दिया। मैं तो इनकी नीति को बिलकुल बेसिर पैर पाता हूँ इनके कहे हुए सिद्धान्तों और इनकी रोजमर्रे की नीति में इतना अधिक फरक है कि कुछ समझ में नहीं आता कि वे क्या सोच रहे हैं। यह दुःख की बात है कि गदर पार्टी के कुछ पुराने नेता, चटगाँव शस्त्रागार कांड के कुछ वीर साथी तथा अन्य ऐसे लोग कथित कम्युनिस्टों के जाल में फँस गये हैं। अवश्य ये वीर साथी रूस के नाम पर इस बहकावे में आ गये हैं। वे यह भूल जाते हैं कि वे रूस के नाम का दुरुपयोग करते हैं तथा विश्वक्रांति को नुकसान पहुँचा रहे हैं। इन साथियों का इस प्रकार पतन दोहरा दयनीय इसलिये है कि ये लोग एक रोमैंस के तवे से दूसरा उससे बदतर रोमैंस के चूल्हे में जाकर गिरे हैं।

पर अक्ल आरही है

पर शैतान को भी उसका प्राप्त दिया जाना चाहिये। हाल में ही इन कथित कम्युनिस्टों ने यह आविष्कार किया है कि आजाद

हिन्द फौज गद्दारों की जमाअत नहीं थी। इसी प्रकार यह लोग यह क्यों न मान लें तो सारा झगड़ा ही निपट जाय कि लोकयुद्ध का नारा गलत था, तथा उसके अनुसरण में जो कुछ किया गया वह साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियों के प्रति गद्दारी थी।

रूस और भारत की समस्या अलग

१६१७ के बाद से रूस की यह समस्या रही कि जो समाजवाद स्थापित किया गया है, उसकी रक्षा की जाय और अपने समाजवाद को खतरे में बिना डाले हो सके तो उसका विस्तार किया जाय पर भारतवर्ष में तो समस्या बिलकुल दूसरी है। यहाँ तो अभी समस्या यह है कि किस प्रकार साम्राज्यवाद से भारत छुड़वाया जाय और समाजवादी समाज की स्थापना की जाय। इस प्रकार रूस तथा भारत का तरह देशों की समस्यायें कतई भिन्न है। भारत की समस्या तो यह है कि यहाँ समाजवाद तो आये, रूस की समस्या यह है कि समाजवाद को रक्षा कर उसे गहरा तथा विस्तृत किया जाय। इसलिये किन्हीं परिस्थितियों में रूस तो किसी अन्तराष्ट्रीय शतरंज के क्षेत्र म किसी साम्राज्यवादी शक्ति का मित्र बन सकता है जिससे वह दूसरी साम्राज्यवादी तथा फासिवादी शक्तियो से लड़ सके, पर पराधीन भारत की तो एक ही नीति हो सकती है और वह है हर हालत में साम्राज्यवाद का विरोध।

वर्तमान अवस्था में भी कम्युनिस्टों से सहयोग

फिर भी वर्तमान परिस्थिति में भी जब कि कथित कम्युनिस्ट गलतियों के गड्ढे में पड़े हुये हैं, मैं यह कहूँगा कि मई दिवस, लेनिन दिवस, रूसी क्रान्ति दिवस पर कम्युनिस्ट पार्टी को साथ सहन किया जा सकता है। मैं जानता हूँ कि ऐसा कहकर मैं उन लोगों को अप्रसन्न कर दूँगा जो हद पार कर गये हैं। पर इन पतित साथियों के पुनरूद्धार के लिये कहीं न कहीं एक कदम तो उठाना ही पड़ेगा।

विरोध करते-करते हम बहक न जायें

इसके अतिरिक्त हमें यह भी तो स्मरण रखना चाहिये कि कुछ खुर्राट, प्रतिक्रियावादी, विकृत दक्षिणपंथियों ने कथित कम्युनिस्टों के विरुद्ध इस हमले को सोवियट रूस, समाजवाद मार्क्स एंगेल्स, लेनिन के व्यक्तित्व तथा लाल झंडे के विरुद्ध हमले का प्रारम्भ बिन्दु बना रक्खा है इसे हम नहीं भूल सकते। **अवश्य ही हमें इन कुचेष्टाओं का डटकर मुकाबला करना पड़ेगा। किसी भी हालत में इस प्रकार के** हमलों को सहन करना परम मूर्खता होगी। किसी भी हालत में हमें दक्षिणपंथियों के हाथों में नहीं खेलना है।

विकारग्रस्त बदले की भावना गलत

एक विकारग्रस्त बदले की भावना के वशवर्ती होकर हमें समाजवाद मार्क्सवाद तथा सोवियट की जड़ों में कुठाराघात नहीं करना है। हमें मसानी ऐसे लोगों का अनुकरण नहीं करना चाहिये जो इस विकारग्रस्त मनोवृत्ति के वशवर्ती होकर मार्क्सवाद से ही अलग हो चुके हैं। ऐसे लोग बाद को चलकर अवश्य धोखेबाज साबित होंगे। वामपक्ष जो भी करे उसे मात्राज्ञान नहीं खोना चाहिये। इस मात्रा ज्ञान के बगैर तो कभी किसी परिस्थिति को सही ढङ्ग से समझा ही नहीं जा सकता। वैयक्तिक जीवन में भी बदले की प्यास कोई अच्छा पथप्रदर्शक नहीं है और पार्टियों के जीवन में तो यह बहुत ही खराब है।

लाल झंडे में और तिरंगे में कोई विरोध नहीं

लाल झंडा विश्व के मेहनतकशों का झंडा है। यह समाजवादी क्रान्ति का झंडा है और तिरंगा झंडा राष्ट्रीय क्रान्ति का झंडा है। इन दोनों के पीछे शहीदों के रक्त से लिखा हुआ बहुत गौरवमय इतिहास है। ये दोनो परस्पर विरोधी कैसे हो सकते हैं? केवल एक विकृतमस्तिष्क व्यक्ति ही सोच सकता है कि इनमें विरोध है। रहा यह कि जहाँ इन दोनों झंडों को फहराना है उस समय पहले कौन फह-

राया जाय, यह कोई टेढ़ा प्रश्न नहीं क्योंकि पहले राष्ट्रीय क्रान्ति है फिर समाजवादी क्रान्ति, इस कारण पहले तिरंगा झंडा ही फहराया जायगा। अवश्य मेरा मतलब यह नहीं है कि राष्ट्रीय क्रान्ति के सौ-पचास वर्ष बाद ही समाजवादी क्रान्ति होगी, बल्कि सच बात तो यह है कि इन दोनों के दर्मियान के समय को घटाकर एक हफ्ता एक दिन करने के लिये ही इस बात की जरूरत है कि एक वास्तविक समाजवादी दल को अपने अस्त्र की नोक बनाई हुई जनता को क्रियाशील होने की जरूरत है।

समाजवाद और लाल झंडा अविच्छेद्य

लाल झंडे के सवाल पर लौटते हुए हम यह पाते हैं कि समाजवाद और लाल झंडा अविच्छेद्य हैं, इसलिये वास्तविक रूप से जो समाजवादी हैं, यहाँ तक कि ईमानदार वामपक्षी भी अपने को किसी भी हालत में इतना नहीं भूल सकते कि वे समाजवाद के दुश्मनों के बहकाने पर लाल झंडा का विरोध करें। हाँ यदि कोई गिरोह लाल झंडे का दुरुपयोग कर रहा है, तो उसकी दवा यह नहीं है कि हम जाकर उस लाल झंडे को उठा फेंकें, बल्कि हमें चाहिये कि हम खुद दस हजार लाल झंडा लेकर चलें और इस प्रकार जनता को यह दिखला दें कि हम लाल झंडे के असली हकदार हैं, न कि वे जो उसका दुरुपयोग करते हैं। किसी भी हालत में कोई समाजवादी यहाँ तक कि वामपक्षी भी किसी दक्षिणपंथी अथवा फासिवादी के द्वारा लाल झन्डे का अपमान होने नहीं देगा। इसी प्रकार एक समाजवादी तिरंगे का भी अपमान होने न देगा। एक दक्षिणपंथी जो लाल झन्डे से तिरंगे को श्रेष्ठ बतलाता है, वह उतना ही खतरनाक है जो तिरंगे को गालियाँ देता है। यहाँ तक मुस्लिम लीग के झन्डे की यद्यपि वह बदतर साम्प्रदायिक झन्डा है, इज्जत की जानी चाहिये। जब तक जनता का एक बड़ा हिस्सा इसको लेकर चलता है, तब

तक इसकी इज्जत करनी पड़ेगी। इस झण्डे का भी क्रांतिकारी उपयोग हो सकता है, यह आजाद हिन्द फौज के कमान्डर अब्दुल रशीद की सजा के विरुद्ध जो प्रदर्शन हुए थे, उस अवसर पर ज्ञात हो गया।

तथ्य है कि तिरंगा सब मुसलमानों को मान्य नहीं

झण्डों के सम्बन्ध में यह भी बात याद रखना चाहिये कि किसी भी कारण से हो जिसके ब्यौरे में यहाँ जाने की जरूरत नहीं, तिरङ्गा झण्डा मुसलमानों में से अधिकांश को मान्य नहीं है। यह दुर्भाग्य की बात है, अवश्य इसका अर्थ यह नहीं कि ऐसा आकस्मिक रूप से हुआ है और यह कार्य-कारण सम्बन्ध के बाहर है, फिर भी यह एक तथ्य तो है ही। कैसे इस दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति से छुटकारा कराया जाय, इसका यहाँ प्रश्न नहीं है पर यह निस्सन्देह है कि आगे भी बहुत दिनों तक परिस्थिति ऐसी ही रहेगी। नेताओं के चुनाव भाषणों ने करीब-करीब कांग्रेस द्वारा स्वीकृत जातियों के अलग होने के अधिकार पर पानी फेर दिया है, फिर पटेल द्वारा दी गई गृहयुद्ध की अत्यन्त मूर्खतापूर्ण धमकी, इन सब बातों ने इस सम्बन्ध की परिस्थिति को खराब ही किया है। इस प्रकार तथ्य रूप में तिरङ्गा झण्डा अखिल राष्ट्र का झण्डा नहीं है।

लाल झण्डे से केवल शोषक ही जलते हैं

पर लाल झण्डे के साथ ऐसी कोई असुविधा नहीं है। अवश्य फासिवादी तथा उच्च वर्ग के शासन के पक्षपाती इससे घृणा करते हैं, पर इसी कारण यह मेहनतकश जनता के संग्राम के लिये अच्छा अस्त्र है। इसलिये राष्ट्रीय क्रांति के प्रेमियों को भी सोच समझ कर लाल झण्डे के विरोध का बीड़ा उठाना चाहिये। अवश्य लाल झण्डा समाजवादी क्रांति का प्रतीक है, इसीलिये शोषक इससे जलेंगे ही पर मैं उम्मीद करता हूँ (शायद यह उम्मीद के विरुद्ध उम्माद है)

कि हमारे दक्षिणपंथियों का यह विद्वेष वैसा नहीं है।

वामपक्षी कांग्रेस को १९४२ की धारा में ले जाना चाहते हैं

वामपक्षियों और समाजवादियों को कांग्रेस के अन्दर रहना चाहिये। १६४२ ने यह दिखला दिया कि कांग्रेस उससे कहीं अधिक विकाश की योग्यता रखती है जितना कि दबाव राजनीतिज्ञ तो न चाहते होंगे। अवश्य कांग्रेस में रहने का यह दाम कदापि नहीं दिया जा सकता कि वामपक्ष या समाजवाद त्याग दिया जाय। कभी नहीं, वामपक्षी या समाजवादी कांग्रेस को १६४२ की धारा में आगे बढ़ाने के लिये हैं।

कांग्रेस जनक्रांति का वास्तविक वाहन हो

इसके लिये कांग्रेस का इस प्रकार से पुनर्गठन होना चाहिये कि जनक्रांति का वास्तविक वाहन हो सके। यह स्पष्ट है कि दक्षिणपक्ष इस जिम्मेदारी को उठाने के लिये तैयार नहीं है। वास्तविक रूप से १६४२ ने इनको कुछ नहीं सिखाया या यही सिखाया कि वे क्रांति से बचत करते रहे।

नेताओं का वही पुराना राग

वर्धा जिला राजनैतिक कानफरेन्स के अवसर पर कार्य-समिति के सदस्य श्री शंकरराव देव ने १६४५ के ३१ दिसम्बर को कहा थाः—

"हम विगत आन्दोलन में इस कारण असफल नहीं रहे कि हम अहिंसात्मक असहयोग या सत्याग्रह के गान्धीवादी तरीके से अपरिचित थे, बल्कि हम इसलिये असफल रहे कि रचनात्मक कार्यक्रम पर आधारित कोई मजबूत सङ्गठन नहीं था जो सत्य और अहिंसा पर विश्वास रखता। अहिंस-असहयोग कोई नई चीज नहीं है यह तो लोकमान्य तिलक के निष्क्रिय प्रतिरोध का जिसमें स्वराज्य, स्वदेशी, बायकाट तथा राष्ट्रीय शिक्षा था, विशदीकरण मात्र है। यदि आप गाँधी जी के १४ सूत्री कार्य-क्रम को लेकर जनता का बराबर संस्पर्श

बनाये रहें तो सब किसान, मजदूर की शक्तियाँ आपके साथ रहेगी और आप ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अन्तिम अहिंस हमला कर जनता के फायदे के लिये शक्ति पर कब्जा कर सकेंगे।" श्री देव ने और भी कहा कि "अस्ति, चिमूर तथा दूसरे अत्याचारों की पुनरावृत्ति को रोकने के लिये हमे जब जरूरत पड़े तो कमर कस लेना चाहिये।"

केवल दबाव राजनीति

यह सबक वही पुराना राग है। अध्यात्मिक तामझाम को निकाल देने पर इसका अर्थ यही होता है कि पुराने ढङ्ग पर कांग्रेस का सङ्गठन हो यह एक शिथिल संस्था रहेगी जो शायद दबाव राजनीति के उपयुक्त है पर क्रांति के वाहन के सम्पूर्ण अनुपयुक्त रहेगा। जिस समय श्रीदेव बोल रहे थे, उस समय १४ सूत्र थे, पर बाद को सूत्रों की संख्या बढ़ा दी गई पर इसमे न तो उसके तरीके में और न उसके ढङ्ग में ही कोई परिवर्तन हुआ। कहीं यह न समझा जाय कि श्रीदेव का उद्धरण ठीक से नहीं दिया गया, इसलिये हम उसकी पूरी रिपोर्ट को उद्धृत करते हैं।

"कलकत्ते के उस प्रस्ताव की व्याख्या करते हुए जिसमें नीति के रूप में अहिंसा पर फिर से जोर दिया गया उन्होंने कहा कि कांग्रेस लोगों को बहादुरी, कष्ट सहन तथा त्याग के लिये अभिनन्दित करती है, पर उनके उन तरीकों की निन्दा करती है जिनमें उन्होंने अहिंसा को त्याग दिया था। अहिंसा के द्वारा लोगों को क्रान्ति या खुले विद्रोह के लिये संगठित किया जा सकता है, पर हिंसा या सशस्त्र प्रतिरोध के द्वारा आप खुल्लमखुल्ला लाखों व्यक्तियों को लेकर हिंसात्मक संग्राम नहीं कर सकते। विगत आन्दोलन में तो लोगों का उद्देश्य यह था कि राष्ट्रीय हड़तालों के द्वारा सरकार के यंत्र को बिलकुल बैठा दिया जाय। पर जब लोग इसमें सफल नहीं हुए तो

इनके लिये यह स्वाभाविक हुआ कि वे रेल, तार काटने चल दिये। औजार डाल देना तथा राष्ट्रीय लड़ाई यह राजनैतिक शक्ति पर कब्जा करने के लिये एक अच्छा अस्त्र है।"

कांग्रेस किसान-मजदूर-राज्य स्थापित करना चाहती है जिसमें सबको समान सुविधायें प्राप्त होंगी और श्रम का शोषण न होगा। सब मौलिक धन्धो का राष्ट्रीयकरण होगा जिसमे श्रमिकों को काम खाना, कपड़ा, मकान मिलेगा। इसके अतिरिक्त धन का न्यायपूर्ण विभाजन होगा जिससे किसान, मजदूर तथा उत्पादक कों जरूरत के मुताबिक मिले। गान्धी जी इन बातों को शस्त्र से हासिल नहीं करना चाहते हैं, बल्कि शांतिपूर्ण तथा अहिंसा द्वारा मे रचनात्मक कार्यक्रम से प्राप्त करना चाहते हैं। क्योंकि रचनात्मक-कार्य ढङ्ग से करने पर समाज में क्रान्ति होगी। ठोस सारपूर्ण रचनात्मक कार्य से ही उद्देश्य प्राप्त हो सकता है। इसलिये उठो, जागो, एक हो और राष्ट्रीय संग्राम के लिये तैयार हो जाओ जो विधान-सम्मेलन की असफलता के बाद लड़ा जायगा।"

श्री देव का असली उद्देश्य

इस प्रकार कथन में श्री देव का क्या उद्देश्य है, यह उनके आगे के कथन से स्पष्ट हो जाता है।

"शिमला मे असफल हो जाने के बावजूद हम विधान-सम्मेलन के विधान बनाने मे भाग लेंगे जिससे शक्ति का हस्तान्तरीकरण हो। पर यदि सरकार किसी प्रकार बाधा उत्पन्न करे, या परिस्थति असह-नीय हो जाय तो हमें एक दूसरी और अन्तिम लड़ाई छेड़नी पड़ेगी।" (करतल ध्वनि)

भोंकना और पोंकना

यह तो बदतर दबाव राजनीति ही हुई। यह जो विधान को कार्या-न्वित करने के साथ-साथ पारी-पारी से संग्राम की बातचीत करते

जाना, यह दबाव राजनीतिज्ञों के लिये अच्छी बात है। मेरा यह कहने का मतलब नहीं है कि क्रान्ति में सुधार का कोई स्थान नहीं है। उनका स्थान होता है बशर्ते कि सुधारों को क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से कार्यान्वित किया जाय।

सुधार और क्रान्ति के सम्बन्ध पर लेनिन

लेनिन इस बात को जानते थे कि केवल मार्क्सवाद में सुधार और क्रान्ति के सम्बन्ध का अच्छी तरह निरूपण किया गया है। सुधार क्रान्तिकारी वर्ग-संघर्ष के ही उपफल हैं। लेनिन ने ही बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है 'सैद्धान्तिक' रूप से हर समझौते को अस्वीकार कर देना, आमतौर से हर समझौते के औचित्य को ही अस्वीकार कर देना, चाहें वह किसी प्रकार का हो एक ऐसा बचपन है जिसे गंभीरता के साथ लेना मुश्किल है। जो क्रान्तिकारी मेहनतकश वर्ग के लिये हितकर होना चाहता है, उसे चाहिये कि ऐसे समझौतों को निर्दिष्ट रूप से अलग कर ले जो मौकावाद और गद्दारी से पूर्ण है और अन्त तक इन समझौतों की आलोचना करे, भंडाफोड़ करे और यह नहीं कि आमतौर से सब समझौतो को न मान कर दूसरों को गलत अर्थ निकालने का मौका न दें।"

कांग्रेस मंत्रिमंडल फायदा पहुँचा सकते हैं यदि

समझौते और युद्धकालीन रणनैतिक पीछे हटना Reculer pour mieuse souter अच्छी तरह छलांग मारने के लिये पीछे हटने की नीति पर हो, न कि नौकरी पाने की नीति पर। यदि कांग्रेस मंत्रिमंडल पत्रों को क्रान्तिकारी स्वतंत्रता दें, अस्त्र कानून वापस लें (गान्धीवादी शायद इसको पसन्द न करे, पर उनको यह बता देना चाहिये कि लार्ड इर्विन के निकट गान्धी जी ने जो मांगें की थी, उनमें अस्त्र कानून को रद्द किया जाना भी था), पुलिस आदि को आजाद हिन्द फौज के आदर्श पर संगठित किया जाय, तो उस प्रकार का मंत्रीत्व-ग्रहण

क्रान्ति के लिये जर्मान तैयार कर सकता है। पर क्या इस दृष्टिकोण का कहीं पता है? मुझे बहुत सन्देह है। अभी से ही पदों के लिये भगदड़ मची हुई है और चूंकि १९४२ ने नेताशाही को चौंका दिया है इसलिये शायद अबकी बार पद-ग्रहण १९३७ के मौके से कम क्रान्तिकारी दृष्टि से हो।

उचित संगठन वामपक्ष, पर

इसलिये कांग्रेस को १९४२ की भावना से पुनः संगठित करने का भार वामपक्षियों, समाजवादियों तथा उन चन्द प्रगतिशील दक्षिण-पंथियों पर जिनमें अभी कुछ भ्रांतियां बाकी है पड़ेगा और जो अन्त तक वामपक्षियों तथा समाजवादियों में मिल जायेंगे। फिर भी वामपक्षियों अथवा समाजवादियों को कांग्रेस पर ही पूरा भरोसा रखकर बैठे नहीं रहना चाहिये। उन्हें १९४२ की रोशनी में वर्ग संस्थाओं, छात्र तथा नौजवान-संस्थाओं का गठन करना चाहिये।

संगठन के कुछ ब्यौरे

पहली बात तो यह होनी चाहिये कि ये संस्थायें कांग्रेस से स्वतंत्र हो, पर हां वे किसी भी हालत में तबतक कांग्रेस के विरुद्ध न हो जब तक कांग्रेस सचमुच साम्राज्यवाद विरोधी रहे। वामपक्षियों तथा समाजवादियों को यह भी चाहिये कि यद्यपि मुस्लिम लीग पर साम्प्रदायिक नेतृत्व है, फिर भी उसे अवज्ञा की दृष्टि से न देखे क्योंकि वह साम्रज्यवाद विरोधी संस्था के रूप में विकसित होने की सामर्थ्य रखती है। सच तो यह है कि मुस्लिम जनता का दबाव उसे उस तरफ लिये जा रहा है।

आजाद हिन्द फौज

१९४२ की क्रान्ति की भस्मराशि से मजे हुए से वामपक्षियों तथा समाजवादियों के अतिरिक्त एक और क्रान्तिकारी शक्ति का उदय हुआ है, जिसको कुछ ही लोग भाप पाये हैं। यह श्री सुभाष संगठित

आजाद हिन्द फौज है। कोई ५०००० व्यक्ति जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध में मजे हुए हैं, इस समय दिनरात भारत के कोने-कोने में घूम रहे हैं, जनता को अपने किस्से तथा विचार ऐसी भाषा में सुना रहे हैं जो जनता समझती है। इनका सरकारी सेना के साथ भी बहुत निकट सम्बन्ध है और यह सेना ही वह शक्ति है जिस पर साम्राज्यवाद अपने अस्तित्व के लिये निर्भर है और जिसके मिले बगैर कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार आजाद हिन्द फौज ने साम्राज्यवाद के सब से तगड़ी किलेबन्दी में दरारें कर दी हैं। यह उल्लेखनीय है कि क्रान्तिकारियों ने भी इस तथ्य को अच्छी तरह नहीं समझा है।

शाहनवाज आदि क्यों छूटे

लोग यह समझते हैं कि मेजर जेनरल शाहनवाज और उनके साथियों को जन-आन्दोलन के कारण छोड़ दिया गया पर यह पूर्ण सत्य नहीं है। सेना ने ही मुख्यत: इनकी रिहाई कराई। इस सम्बन्ध में 'हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड' की यह खबर पठनीय है:—

(हमारे विशेष सम्वाददाता द्वारा)

"लखनऊ ४ जनवरी—दिल्ली से प्राप्त विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि आजाद हिन्द फौज के तीन वीर शाहनवाज, सहगल ढिल्लन की रिहाई की माँग सेना द्वारा की गई थी। कमान्डर-इन-चीफ ने जो इस सेना के प्रधान सेना की इच्छा के अनुसार कार्य किया। सेना के स्वतंत्र वोट ८० फी सदी रिहाई के पक्ष में थे। इसके बाद रेजिमेन्ट के अध्यक्षों ने सेना से यह स्पष्ट कर दिया कि सम्राट के प्रति शपथ की रोशनी में उनके इन विचारों का क्या अर्थ है। उन्हें यह भी बताया कि उनकी हालत में उनका क्या कर्तव्य होता फिर वोट लिया गया, तो रिहाई के पक्ष में ७८ फी सदी वोट आये। सेना के भारतीय हिस्से ने यह स्पष्ट कर दिया कि आजाद हिन्द फौज

वाले जिन परिस्थितियों में पड़ गये थे, वैसी परिस्थिति में पड़ने पर यह भी वैसा ही करते। इस प्रकार सेना के मन की टोह पा जाने पर कमान्डर-इन-चीफ ने वायसराय की कार्यकारिणी से परिस्थिति स्पष्ट कर दी और यह बता दिया कि अन्तिम फैसला देने वाले के रूप में वे इस मामले में क्या करने जा रहे हैं। इस प्रकार इन कोर्ट-मार्शलों से एक बात यह साफ हो गई कि भारतीय सेनायें कानून की दृष्टि से चाहे जिसके अधीन है, वैधानिक परिस्थिति चाहे उस सम्बन्ध में कुछ भी हो पर यह सेना अब भारतीय राष्ट्र के अधीन है न कि और के।"

आगामी क्रांति में आजाद् हिन्द् फौज का भाग

इस समाचार का अर्थ स्पष्ट है इधर जो कई सिपाही विद्रोह हो चुके हैं उनसे इसका अर्थ और स्पष्ट हो गया है। आगामी संग्राम में आजाद हिन्द फौज यदि सब से बड़ी नहीं तो एक बहुत बड़ी शक्ति प्रमाणित होगी। यह इस बात को देखेगी कि क्रांति पेशेदार भाड़े के टट्टुओं के द्वारा खतम नहीं कर दी जाती। सच तो यह है कि आजाद हिन्द फौज के कारण अब भारत की भूमि पर भाड़े की फौज नहीं रह जायगी।

आजाद् हिन्द् फौज में एक बड़ी कमी

फिर भी आजाद हिन्द फौज में एक बड़ी कमी है। वे लाल सेना की तरह विचार धारा में मंजे नहीं हैं। बात यह है कि सुभाष बाबू वास्तविक लड़ाई में तथा लड़ाई की तैयारी में इतने व्यस्त थे कि इस प्रकार की विचार धारा की शिक्षा के लिये कम समय मिलता होगा। वामपन्थी दलों का यह कर्तव्य है कि वे इस त्रुटि को दूर कर दें। इस प्रकार से तैयार किये जाने पर ही ये आजाद हिन्द फौज के भूतपूर्व सदस्य विश्वक्रान्ति के प्रबलतम शक्ति हो सकते हैं। नहीं तो प्रतिक्रान्ति इन्हें अपना स्टार्म-ट्रूप के रूप इस्तेमाल करने की चेष्टा

कर सकती है, इस प्रकार क्रान्ति आफत में पड़ जायगी। ये लोग इतना तो जानते ही हैं कि ये आजादी के लिये लड़ रहे थे, पर इस शब्द का वास्तविक किसान-मजदूर-राज वाला अर्थ (न कि रामराज्य या ट्रस्टीराज जिसका माने फासिवाद भी हो सकता है) इनके दिमाग में खूब अच्छी तरह बैठा देना चाहिये।

वामपक्षी किसी भी हालत में घुटना न टेके

यह कोई समाजवादी दल के संगठन पर पाठ्यपुस्तक नहीं, अतएव हम इन्हीं मोटे मन्तव्यों तक अपने को सीमित रक्खेंगे। किसी भी हालत में वामपक्षी या समाजवादी घुटना न टेकें। अवश्य यदि शक्तियों का तारतम्य ऐसा पड़े और हद तक जाने की जरूरत हो तो ये पार्टियाँ खुल्लमखुल्ला रूप में अपने खुले रूप को कांग्रेस के अन्दर तोड़ दें और गुप्त रूप में रहें। लेनिन का तथा अन्य संगठन कर्ताओं का तो यहाँ तक कहना है कि गुप्त भाग के बगैर कोई क्रान्तिकारी दल नहीं होता। मैंने इस विषय पर अन्यत्र लिखा है, इसलिये यहीं तक यहां यथेष्ट है।

आधी संस्था गुप्त आधी प्रकट

अवश्य यदि प्रतिक्रान्ति जोर डाले और मजबूर करे कि वामपक्षी पार्टियाँ या तो घुटना टेक दे या कांग्रेस से निकल जायँ तो ये ऐसा कर सकती हैं कि अपनी संस्था के आधी को डुबा दें और आधो को खुली रक्खे। यदि प्रतिक्रान्ति का कांग्रेस पर जोर हो जाय और वे पार्टियों को याने महात्मा की पार्टी के अतिरिक्त सब पार्टियों को कांग्रेस से बाहर निकाल दें तो ये पार्टियाँ ऐसा कर सकती हैं कि उनके जो सदस्य कांग्रेस के अन्दर प्रभावशाली हैं उनको कांग्रेस को प्रभावित करने के लिये पार्टी से इस्तीफा दिलवा कर कांग्रेस में रहने दे, बाकी लोग बाहर पार्टी बनालें। कांग्रेस के अन्दर जो रह जायँ वे बाहर के द्वारा परिचालित हों।

सभी हालतों की तैयारी

मैंने केवल उस समय के लिये मार्ग बताये हैं जब कि वामपक्ष को मजबूर किया जाय। अवश्य यदि प्रतिक्रान्ति को जमीन के नीचे रहने के लिये मजबूर किया जा सके जैसा कि अध्यापक कृपलानी को पीछे हटने के लिये मजबूर किया गया, तब तो प्रश्न ही नहीं उठता। किसी भी हालत में पार्टियाँ अपने कामों को तेज करें। अब कैडर या सदस्यों को ठीक से विचारधारा की शिक्षा दी जाय। गांधी जी के १४ या २२ सूत्रों पर (इनको सहन किया जाय, पर अमल नहीं) नहीं, बल्कि रोजमर्रे की आर्थिक लड़ाई के क्षेत्र में साथ देकर जनता का साथ दिया जाय।

फाँसी घर में एक शहीद के सन्देह

अन्त में मैं पाठक को यह स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि फाँसी की प्रतीक्षा करते हुये फाँसीघर से अन्तिम पत्र लिखते हुये यह भय जाहिर किया था कि कहीं उनके त्याग का दुरुपयोग न हो। उन्होंने यह कहा था कि इसे रोकना चाहिये। १९४५ के एक शहीद का यह सन्देश बहुत ही हृदयद्रावक है। आखिर फाँसी चढ़ने के पहले इस शहीद शिरोमणि को यह शंका क्यों हुई थी? यह स्पष्ट है कि फाँसी घर में बन्द इस भावी शहीद को प्रतिक्रान्ति अपने भयकर जबड़ों को खोली हुई दिखाई पड़ी। शहीद ने अपने अनुभूतशील हृदय से यह अनुभव किया कि मौजूद परिस्थिति में उनके तथा दूसरे शहीदों के त्यागों के दुरुपयोग की संभावना है।

क्या शहीद व्यर्थ में मरे?

मैं यह दिखा चुका हूँ कि किस प्रकार प्रतिक्रान्ति १९४२ तथा उसकी सहकारी आजाद हिन्द फौज की सारी कमाई को ग्रसने के लिये तैयार है। इन शहीदों के वास्तविक (न कि ऊपरी) प्रशंसकों का यह कर्तव्य है कि इस बात को देखें कि शहीदों के त्यागों का

दुरुपयोग न हो। उन्होंने अपना तरुण जीवन क्रान्ति के पहियों को द्रुतगामी बनाने के लिये दिया, न कि उनको फँसाने के लिये। वामपन्थियों तथा समाजवादियों का कर्तव्य है कि १९४२ की थाती को एक मुट्ठी चने के लिये बिकने न दें। प्रतिक्रान्ति को शाब्दिक लड़ाइयों में हराना बेकार है। प्रतिक्रान्ति अपने सूत कातने में व्यस्त है, हम जनता के निकट जावें। केवल जनता ही इस बात की गारंटी कर सकती है कि प्रतिक्रान्ति हार जायगी। केवल वही इस बात की गारंटी कर सकती है कि हम आजादी तथा समाजवाद तक की यात्रा को पूर्ण करें।

आठवाँ अध्याय

भावी विधान सम्मेलन

भारतीय विधान सम्मेलन की पोल

[शायद इस पुस्तक के छपते-छपते विधान सम्मेलन की बैठक हो। इस विधान सम्मेलन के सम्बन्ध में २६ अगस्त १९४६ के आज में मैंने जो कुछ लिखा था वह पर्याप्त है।]

"विधान-सम्मेलन निर्वाचन हो चुका है। आधुनिक भारतीय इतिहास में सर्वप्रथम विधान-सम्मेलन बुलाया जा रहा है। बहुत से लोग हैरान हैं कि यह क्या बला है क्योंकि इसके सम्बन्ध में परस्पर विरोधी बातें सुनने में आ रही हैं। राष्ट्रपति पंडित जवाहरलाल नेहरू

यह कह रहे हैं कि विधान-सम्मेलन पूर्ण स्वतन्त्र संस्था है, पर ऐसी कोई बात स्पष्ट दृष्टिगत नहीं होती। जब से मुस्लिम लीग ने यह निश्चय किया है कि वह विधान-सम्मेलन में भाग नहीं लेगी तब से तो यह भी संदिग्ध हो गया है कि विधान-सम्मेलन की मँगनी होने को तो हो गयी पर लीगी अड़ंगे के कारण उसका अधिवेशन रूपी व्याह होगा अथवा नहीं।

इस विषय पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व यह उचित होगा कि हम देख लें कि इतिहास में विधान-सम्मेलन किस प्रकार से कार्य करते रहे हैं तो शायद हमारे प्रश्न के निर्णय में बहुत सरलता होगी।

किसी समय अमेरिका भी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत था। पहले अमेरिका में मुख्यतः इङ्गलैण्ड के लोग ही जाकर बसे थे। इसलिये मातृभूमि के साथ उसका बहुत दिनों तक सम्पर्क जो रहा उसमें हिसाब का कोई स्थान नहीं था। वह तो एक तरह से प्रेम-सम्पर्क था, स्पष्ट शब्दों में अमेरिकावासियों को बहुत दिनों तक यह मालूम ही नहीं हुआ कि उनका कोई निजी अस्तित्व भी है। किन्तु कुछ दिनों तक इस प्रकार नाबालिगी में रहने के बाद अमेरिकावासी बालिग हो गये। उन्होने समझ लिया कि हजारों मील दूर से अमेरिका का शासन और वह भी शासन नहीं बल्कि शोषण अमेरिका के हक में अच्छा नहीं। अमेरिका वाले अब चाहते थे कि ये अपना शासन स्वयं करे। इसके लिये उन्होंने अपनी मातृभूमि के निवासियों और सत्ताधारियों से माँग की, पर वह स्वीकृत नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि अमेरिकावालों ने विद्रोह कर दिया और १७७६ में अमेरिका स्वतन्त्र घोषित किया गया।

अमेरिका का विधान-सम्मेलन

किस प्रकार यह स्वतन्त्रता-संग्राम हुआ, इसके विवरण में जाने की आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना ही यथेष्ट है कि स्वतन्त्रता की घोषणा

के बाद फिलाडेलफिया नगर में एक विधान-सम्मेलन बुलाया गया और इसमें अमेरिका का नया विधान तैयार किया गया। अमेरिका का सुप्रसिद्ध विधान इसी सम्मेलन की उपज है। यहाँ यह स्पष्ट है और इस ओर हम पाठकों का ध्यान विशेष आकृष्ट करना चाहते हैं कि क्रान्ति के बाद क्रान्तिकारी अथवा क्रान्ति में भाग लेने वाले राष्ट्रों की ओर से यह विधान-सम्मेलन बुलाया गया था। विशेषतः यह बात स्मरण रहे कि ब्रिटिश सरकार की ओर से या उसके बनाये हुये नियमों के अनुसार यह विधान-सम्मेलन नहीं बुलाया गया था।

फ्रांस का विधान-सम्मेलन

अवश्य फ्रांस में जो विधान-सम्मेलन (स्टेट्स जेनरल) बुलाया गया था उसका इतिहास कुछ भिन्न है। फ्रांस के तत्कालीन राजा लुई चौदहवें ने भी विधान-सम्मेलन बुलाया था। राजशक्ति की यह इच्छा थी कि अलग-अलग वर्ग के लोग अलग-अलग अधिवेशन करें। इसके अलावा विधान सम्मेलन का चुनाव कुछ इस तरीके से किया गया कि जनता के वास्तविक प्रतिनिधि न पहुँच पाये। सीधा सीधा जनता के द्वारा विधान-सम्मेलन का निर्वाचन कराने के बजाय बड़े घुमाव-फिराव के साथ निर्वाचन कराया गया। मिसले ने लिखा है कि पच्चीस वर्ष के कर-दाताओं को यह हक था कि वे निर्वाचकों को चुने, फिर निर्वाचक डिपटियों अर्थात् प्रतिनिधियों को चुनने वाले थे। जो कुछ भी हो इस प्रकार भी जनता के एक बड़े हिस्से ने करीब पाँच लाख लोगों ने निर्वाचन में भाग लिया।

कूटिनीतिज्ञों की चाल

उस युग के कूटनीतिज्ञों ने यह कोशिश की कि वे इस प्रकार से जो कुछ दे रहे हैं उसे देना न पड़े। पहली कोशिश तो यह थी कि सामन्त तथा पुरोहित इसमें अधिक संख्या में पहुँचे। तृतीय वर्ग को

जहाँ तक हो सके कम स्थान ही मिले इसकी कोशिश की गई। इतनी सब तैयारी करने पर भी जो परिणाम हुआ वह प्रभुओं के सब हिसाबों के बाहर चला गया। सामन्तवादी समझते थे कि यदि जनता के कुछ प्रतिनिधि पहुँच भी गये तो उन्हें यह हिम्मत न होगी कि सभा में बैठ कर बड़े-बड़े अमीरों और उमरावों के मुकाबले में बात करें।

पर हुआ ठीक इसके विपरीत जनता के प्रतिनिधि अधिक संख्या में पहुँचे। जब यह चुनाव हो गया तो अधिवेशन की तिथि टलती थी। राजा ने चाहा था रूसी क्रांति के एक प्रमुख ट्रटस्की कि यह केवल एक बातचीत तथा तर्क वितर्क की सभा होगी, पर यह देखा गया कि घटनाचक्र इसके विरुद्ध गया। सी० एस० नामक नेता ने कहा कि अब हम स्टेट्स जेनरल न रह कर राष्ट्रीय असेम्बली के रूप में हो जायँगे।

केवल यह बातों का जमा-खर्च ही नहीं था। राष्ट्रीय असेम्बली के होते ही उसे असेम्बली ने अपने लिये कर वसूल करने का हक ले लिया यह केवल शब्दों में नहीं था। जनता क्रांतिकारी आग से इस प्रकार धधक रही थी कि सभी लोग जानते थे कि यदि राष्ट्रीय असेम्बली ने कर देने के लिये मना कर दिया तो कर मिलेगा ही नहीं। हुआ भी यही राष्ट्रीय असेम्बली स्पष्ट रूप में राष्ट्रीय कर्ज का सवाल उठाया और यह कहा कि उसकी गारण्टी की जाती है कि राष्ट्र का कर्ज अदा किया जायगा। इस प्रकार असेम्बली ने पूर्ण प्रभुता की भाषा तथा तर्ज-तरीका ग्रहण किया।

प्रतिनिधियों के प्रवेश पर रोक

जब इस प्रकार राजा का बुलाया हुआ स्टेटस-जेनरल उसके हाथों से निकल गया और राष्ट्रीय असेम्बली के रूप में परिणत हो गया तो राजा ने यह आज्ञा दी कि अगले दिन जब सदस्य आवें

तो उन्हें भवन में प्रवेश न करने दिया जाय। जब प्रतिनिधिगण अगले दिन सम्मेलन के लिए पहुँचे तो उन्होंने देखा कि भवन के दरवाजे बन्द हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि राजा के हुक्म से दरवाजा बन्द है और वह खुल नहीं सकता। अब तो प्रतिनिधिगण बड़े असमंजस में पड़े। इस पर एक प्रतिनिधि गिलोंतां ने यह कहा कि क्यों न हम लोग टेनिस कोर्ट में सभा करें। तदनुसार टेनिस कोर्ट में ही सभा हुई और इसमें एकत्र प्रतिनिधियों ने यह प्रतिज्ञा की कि स्वतन्त्रता का विधान बिना बनाये वे नहीं लौटेंगे।

सेना ने जनता का साथ दिया

इस प्रकार टेनिस कोर्ट वह युद्धक्षेत्र प्रमाणित हुआ जहाँ जनता ने राजशक्ति के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। इस दिन से जनता और राजा के बीच बड़ी प्रचण्ड लड़ाई छिड़ी। यह विधान-सम्मेलन किस प्रकार विधान बनाकर ही हटा, किस प्रकार फ्रांस में राजतन्त्र की पराजय हुई और प्रजातन्त्र की स्थापना हुई, यह ब्यौरे की बात है। किन्तु इसमें मुख्य बात यह है कि जानता ने तथा सेना ने राजा का विरोध किया। इस कारण विधान-सम्मेलन जययुक्त हुआ।

इस दृष्टि से देखने पर फ्रांस में उस समय जो क्रांतिकारी शक्तियां उठ रही थीं यह विधान-सम्मेलन उसी का एक भाग या प्रकाश बना। यही इसकी सफलता का रहस्य है और इस सम्बन्ध में सब से बड़ी बात यह है कि सेना ने उसका साथ दिया। यह इस ऐतिहासिक उदाहरण से स्पष्ट है कि यदि जनता और सेना का समर्थन प्राप्त हो तो राजशक्ति द्वारा बुलाया हुआ सम्मेलन भी क्रांतिकारी हो सकता है। पर इस नतीजे पर पहुँचने के साथ हम यह भूल न जायँ कि बास-टाइल दुर्ग जेल पर जनता द्वारा हमला तथा अन्य क्रांतिकारी कार्य न होते तो यह विधान-सम्मेलन हवा में उड़ता रह जाता। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रहे कि जनता के ये क्रान्ति-कार्य राष्ट्रीय

असेम्बली से सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थे। अर्थात् असेम्बली में बैठने वाले नेताओं तथा वक्ताओं का उसमें कोई हाथ नहीं था।

समझौता-संघर्ष साथ-साथ

सम्मेलन तो इधर अपने प्रस्ताव पास करता रहा, उधर पेरिस तथा अन्य शहरों में क्रांतिकारी जनता पग-पग पर राजतन्त्र से लोहा लेती रही। गाँवों में किसानों ने जमींदारों के विरुद्ध धावा बोल दिया और उनकी जमींदारियों को जब्त कर कचहरियों में आग लगाकर दस्तावेज जला दिये। इस प्रकार यह किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रीय असेम्बली की अकड़ के कारण वहाँ पर राजतन्त्र की शक्ति का ह्रास होकर प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। इसके विपरीत सम्पूर्ण पृष्ठभूमि में देखने पर यह पता चलेगा कि राष्ट्रीय असेम्बली ने इस सम्बन्ध में जो कुछ किया वह बहुत ही नगण्य था और यदि वह न बैठती तो भी फ्रान्स में समानता मैत्री और स्वतन्त्रता का झन्डा लहराता। इसलिये राजा ने स्टेट्स-जेनरल को बुलाया था इसको अधिक महत्व देकर और सब बातों को भूल जाना जिनमें बैसटाइल दुर्ग जेल पर हमला करके राजनीतिक कैदियों को छुड़ा लेना एक प्रतीक मात्र था गलत होगा।

ब्रिटिश सरकार की नीयत

भारतीय विधान सम्मेलन को ब्रिटिश राजशक्ति ने बुलाया है। यह कहना कि उसने आत्महत्या करने के लिए विधान सम्मेलन बुलाया है कुछ भी हो जँचता नहीं है। फ्रेञ्च राजा ने जिस कारण से स्टेट्स-जनरल बुलाया था उसी कारण से ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने भी विधान सम्मेलन बुलाया है. ऐसा मान लिया जा सकता है। अब बात यह रही कि क्या विधान सम्मेलन की बैठक के साथ-साथ भारतवर्ष में बैसटाइल दुर्ग के ऊपर कब्जा किये जाने की तरह हलचल होगी या नहीं, याने इस प्रकार की हलचलों के द्वारा विधान-सम्मेलन

को ताकत पहुँचाया जायगा या नहीं, इसी पर सारी बातें निर्भर हैं।

जनता विद्रोह के लिये प्रस्तुत

मैं समझता हूँ कि जहाँ तक जनता का सम्बन्ध है वह चाहे किसान जनता हो या मजदूर या टुटपुँजिया बाबूवर्ग हो वह तो इतनी उकताई हुई है कि इशारा पाते ही उठ खड़ी होने के लिये तैयार है। सेना के सम्बन्ध में भी ऐसा कहा जा सकता है कि वह भी एक बड़ी हद तक तैयार है, जैसा कि उसके अन्दर होने वाली हलचलों जैसे—वायु-सेना में अनशन, नौसेना में विद्रोह आदि घटनाओं से पता लगता है। पर प्रश्न तो यह है कि हमारे महामान्य नेता इस चीज को इस तरीके से समझते हैं, या नहीं। कम से कम वे इसको समझते हैं इसका कोई परिचय हमारे सामने नहीं है। जिस प्रकार से फ्रेञ्च राष्ट्रीय असेम्बली की अकड़ मात्र से कुछ काम न बनता उसी प्रकार से केवल बहुत जोर गले से यह कहने पर कि विधान सम्मेलन पूर्ण स्वतन्त्र है, कितना काम बनेगा यह विचारणीय है।

रूसी क्रांति के समय की स्थिति

यह तो फ्रान्स का उदाहरण हुआ। अब हम रूस के अनुभवों को देखें। जिस समय १९१७ में फरवरी क्रांति हुई थी उस समय होना तो यह चाहिये था कि फौरन विधान-सम्मेलन बुलाकर राष्ट्र के विधान का खाका बनता, पर ऐसा नहीं हुआ। जिस पूँजीवादी गुट के हाथ में अभी सरकारी शक्ति आयी थी वह विधान सम्मेलन नहीं बुलाना चाहता था क्योंकि वह डरता था कि शायद विधान सम्मेलन जो निर्णय करे वह उसके अनुकूल न हो। ट्राटस्की ने इसका बहुत सुन्दर वर्णन लिखा है। उन्होंने लिखा:—सम्मिलित सरकार को विधान-सम्मेलन बुलाने में कोई जल्दी नहीं थी। विधान-सम्मेलन को बुलाने के लिए जो विशेष कानफरेन्स बुलाई गयी थी उसने मई में अर्थात् क्रांति के

तीन महीने बाद काम शुरू किया। इसमें जो उदारपन्थी विधान-विशेषज्ञ एकत्र थे उन्होंने प्रत्येक बाल को सोलह हिस्से में बाँटा। अपने तमाम हिस्से में जितने तरह के लोकतान्त्रिक तलछट थे उनको कूटा। इस बात पर अन्तहीन रूप से चखचख किया कि सेना को निर्वाचन का अधिकार मिले या नहीं, सेना से भागने वालों को जिनकी संख्या लाखों थी वोट का अधिकार दिया जाय या नहीं। इसी प्रकार इस बात पर भी बड़ी बहस हुई कि रूसी सम्राट के वंशवालों को जिनकी संख्या दस-बीस थी, वोट का अधिकार दिया जाय अथवा नहीं। रह गया यह कि विधान-सम्मेलन किस तारीख को बुलाया जाय इस पर कुछ भी नहीं कहा गया। कान्फरेन्स में इस प्रश्न को उठाना अभद्रता समझी जाती थी, जिसे कि केवल बोलशेविक ही कर सकते थे।"

बोलशेविकों ने क्या किया

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि प्रत्येक दल जिसमें बोलशेविक गण भी शामिल थे बराबर विधान-सम्मेलन का नारा देते आ रहे थे। फिर भी बोलशेविकों के नेता लेनिन यह नहीं समझते थे कि विधान-सम्मेलन तक हाथ-पैर समेट कर बैठा जाय। उन्होंने यह साफ कहा था कि किसानों को जमीनों पर अधिकार कर लेना चाहिये। इधर तो मई तक विधान-सम्मेलन को बुलाने वाली विशेष कान्फरेन्स की बैठक ही नहीं हुई थी, पर उधर लेनिन ने २८ अप्रैल को ही यह नारा दे दिया था कि 'हम चाहते हैं कि जहाँ तक हो सके संगठित तरीके से किसानों को फौरन जमीदारों की जमीन ले लेनी चाहिये।

लेनिन ने इस मौके पर यह कहा था कि 'हमें विधान-सम्मेलन तक प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं है। यह इसलिये कि हमारे लिये सबसे बड़ी बात यह है कि हम क्रान्तिकारी तरीके से काम कर जायँ, कानून तो इसके फलस्वरूप आयेंगे। अगर आप इसके लिये बैठे रहे कि कानून लिखा जाय तब हम काम करें और स्वयं

क्रान्तिकारी कर्मशक्ति विकसित न करें तो न कानून ही मिलेगा और न जमीन ही मिलेगी।"

लेनिन के इस कथन में क्रान्ति शास्त्र का या क्रान्ति के विज्ञान का पूरा निचोड़ आ जाता है।

लेनिन के नेतृत्व में बोलशेविक पार्टी ने तथा रूस की क्रान्तिकारी जनता ने इसी सिद्धान्त पर काम किया। वे इसलिये ठहरे नहीं रहे कि विधान-सम्मेलन बुलाया जाय और वह कुछ तय करे तब काम हो। यदि वे ऐसा करते तब तो रूस में मजदूर क्रान्ति होती ही नहीं। रूस में जो बातें इन दिनों घटित हुईं वे इस बात को प्रमाणित करती है। विधान-सम्मेलन को जहाँ तक हो सके टाला गया।

अन्त में सरकार को झुकना ही पड़ा

अन्त में जून के मध्य भाग में सरकार ने यह तय किया कि १७ सितम्बर को विधान-सम्मेलन का निर्वाचन होगा। यह बात एक हद तक जनता के दबाव के कारण झेंप मिटाने के लिये हुई। मार्च तक विधान-सम्मेलन की बहुत माँग थी पर उसके बाद सब दल तथा वर्ग अपने-अपने ढङ्ग से अपना-अपना काम कर रहे थे। किसी को विधान-सम्मेलन की जरूरत नहीं महसूस हो रही थी। लेनिन तथा उनके दल के विचारों और कार्य-प्रणाली के विषय में हम पहले ही बता चुके हैं। उधर जमींदार-वर्ग भी जो फरवरी-क्रान्ति के बाद बहुत डर गये थे, अब कुछ निडर हो चले थे। पहली जुलाई को मास्को में जमींदारों की एक कान्फरेन्स हुई। इसी प्रकार अन्य प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ सब अपने-अपने लिये काम कर रही थीं।

विधान-सम्मेलन के नारे को किसी दल के लोगों ने वापस नहीं किया था। पर साथ ही साथ सब उससे स्वतन्त्ररूप से याने उसके लिए बिना प्रतीक्षा किये ही अपना कार्यक्रम चलाये जा रहे थे। जैसा कि ट्राटस्की ने लिखा है कि "अब विधान-सम्मेलन का नारा एक

खाली कारतूस, अर्थहीन स्वरूप, एक परम्परा मात्र रह गया था, यह कोई तथ्य नहीं था।" इस प्रतिक्रिया में कोई रहस्यमय बात नहीं थी। क्रान्ति का विकास अब इस हद तक पहुँच चुका था कि अब समाज के दो मौलिक वर्गों अर्थात् सर्वहारा तथा पूँजीपति वर्ग में सम्मुख युद्ध का विन्दु आ गया था। अब यह विधान-सम्मेलन न तो पूंजीपतिवर्ग को ही कुछ दे सकता था और न सर्वहारा वर्ग को ही। रह गये शहर और देहात के मध्यवित्तवर्ग, सो ये लोग इस संघर्ष में केवल किसी न किसी वर्ग के सहायक के रूप में हो काम कर सकते थे। मध्यवित्तवर्ग किसी भी हालत में स्वयं शक्ति पर कब्जा नहीं कर सकता था। यदि बीते हुये महीनों ने कुछ सिखाया था तो यही सिखाया था। फिर भी विधान-सम्मेलन में मध्यवित्तवर्ग विजयी हो सकता था और सच बात तो यह है कि उसने बहुसंख्या प्राप्त की, पर यह किस फायदे का रहा। अन्त तक विचारों को यही नहीं मालूम हो पाया कि वे इस बहुसंख्या को लेकर क्या करें।

लेनिन द्वारा सशस्त्र क्रांति का नारा

इन्हीं सारी बातों को बहुत सुन्दर ढङ्ग से कहकर ट्राटस्की यह नतीजा निकालते हैं कि गहरी ऐतिहासिक विपत्ति के समय या काल सन्धि के समय ऊपरी लोकतन्त्र कुछ काम नहीं देता। फिर भी प्रत्येक दल जैसे पहले से विधान-सम्मेलन का नारा देता आ रहा था, वैसा ही वह अब भी देता रहा, पर हुआ क्या कि विधान-सम्मेलन से पूंजीपति वर्ग ने कारनीलाफ से अपील की थी और बोलशेविकों ने सोवियट से अपील की थी। एक प्रतिक्रान्ति की तैयारी कर रहा था तो दूसरा वर्ग सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी कर रहा था। बोलशेविकों की ओर सामरिक क्रान्तिकारी कमेटी बन रही थी। लेनिन ने सशस्त्र क्रान्ति का नारा दिया।

अन्त तक करीब-करीब क्रान्ति के समय प्री-पार्लमेन्ट के नाम से

विधान-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, पर अन्त तक बोलशेविक नायकों ने मेम्बरों को अधिवेशन नहीं करने दिया। हाँ, किसी भी सदस्य को गिरफ्तार नहीं किया गया। प्री-पार्लमेण्ट के सदस्य चुपचाप अपने-अपने घर चले गये। संक्षेप में रूस के विधान-सम्मेलन का यह इतिहास है।

इतिहास की कसौटी पर विधान सम्मेलन

अब हम ऊपर बताये गये इतिहास के तजरबे की कसौटी पर जब भारतीय विधान सम्मेलन को कसेंगे तभी उसकी असलियत ज्ञात होगी। हमने जितने भी उदाहरण दिये उन सब में क्रान्ति से ही सरकार की कायापलट हुई। न कि विधान-सम्मेलन से। इस कसौटी पर कसने से हम देखेंगे कि भारतवर्ष में ऐसी कोई तैयारी नहीं दीख पड़ रही है। केवल यह कहने से कि विधान-सम्मेलन पूर्ण स्वतन्त्र एवं सत्तापूर्ण संस्था है, ब्रिटिश सरकार को चाहिये कि वह विधान-सम्मेलन की बैठक बुलाकर अलग हो जावे, इससे कहाँ तक क्या सिद्ध होगा, इसमें भारी सन्देह है। अवश्य हमारे महामान्य नेता यह कह रहे हैं कि विधान-सम्मेलन यदि असफल हो गया तो फिर क्रान्ति कर दी जायगी, पर प्रश्न तो विधान-सम्मेलन की असफलता के बाद क्रान्ति करने को नहीं है, बल्कि यह है कि विधान-सम्मेलन को जोर पहुँचाने के लिये क्रान्ति की जाय। कम से कम इतिहास हमें यही बताता है।

क्रान्ति के आधार

ट्राटस्की ने तथा क्रान्ति के विशेषज्ञों ने यह साफ-साफ बताया है कि क्रान्ति को शीघ्र घटित करने के उपायों में आम हड़ताल, सड़कों पर लड़ाई तथा बैरिकेड है। पाठक इस पर स्वयं विचार कर सकते हैं। यहाँ तो मामूली दुकानें बन्द करने से भी हमारे महामान्य नेता हिचक रहे हैं।

क्रान्ति के बाद विधान सम्मेलन

लेनिन ने अपनी 'दो नीतियाँ' नामक पुस्तक में यह साफ बताया है कि क्रान्ति के बाद ही अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार विधान-सम्मेलन बुला सकती है। तभी इस विधान-सम्मेलन का नतीजा क्रान्तिकारी होगा। इसके साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि विधान-सम्मेलन के लिये प्रतीक्षा न कर क्रान्तिकारी तरीके से जहाँ तक हो सके संगठित रूप से जमीन-जायदाद की जब्ती हो जानी चाहिये। इस पर मन्तव्य अनावश्यक है। लेनिन का आशय स्पष्ट है।

अब हम भारतीय कथित विधान-सम्मेलन की दो-एक अन्तर्निहित गलतियों की ओर दृष्टि आकर्षित करेंगे। सबसे पहली गलती तो यह है कि जनता को सीधे-सीधे इस चुनाव में हिस्सा नहीं लेने दिया गया। दूसरी बात यह है कि विधान-सम्मेलन का विधान पहले से तैयार कर दिया गया और वह विधान ऐसा है, जो बहुत कुछ परस्पर विरोधी है।

विधान-सम्मेलन की त्रुटियां

विधान में यह बताया गया है कि पहले तो विधान-सम्मेलन के सदस्यगण नयी दिल्ली में मिलेंगे। फिर वे एक सभा करेंगे जिसमें यह तय होगा कि किस प्रकार कार्रवाई की जाय। एक सभापति तथा अन्यान्य कर्मचारी चुने जायँगे, एक परामर्श देने वाली कमेटी चुनी जायगी, इसके बाद प्रान्तीय सदस्य तीन हिस्सों में बँट जायँगे और प्रत्येक हिस्सा अपने अन्दर के प्रान्तों के विधान बनायेंगे तथा यह भी तय करेंगे कि ये समूह अपने अन्तर्गत सब प्रान्तों के लिये कोई विधान बनायें या न बनायें। इसके बाद जब इतना काम हो जायगा तब इन हिस्सों के तथा देशी रजवाड़ों के प्रतिनिधि फिर से एकत्र होंगे जिससे कि सब का विधान बन सके।

अब इसमें गलती यह है कि यूनियन या सब के विधान बन जाने

के पहले प्रान्त अपना विधान किस आधार पर बनावें। स्पष्ट है कि दोनों का काम परस्पर सम्बद्ध है। कार्य-क्षेत्र में इस प्रकार त्रुटियुक्त विधान का नतीजा यह होगा कि महीनों चीजें टलती रहेंगी और अन्त में कोई नतीजा निकलेगा ही, यह कहा नहीं जा सकता। मुस्लिम लीग के शामिल न होने से यह विधान कतई बन सकता है या नहीं इसमें बहुत सन्देह है। कुछ लोगों को सही तौर पर यह सन्देह है कि ऐसी हालत में शायद विधान बनाने की नौबत ही न आवे। मान लीजिये मुस्लिम लीग के अतिरिक्त और सब लोगों ने मिलकर विधान बना ही लिया तो उसे लागू कौन करेगा। क्या ब्रिटिश सरकार उसे लागू करने के लिये तैयार हो जायगी ?"
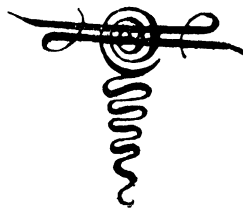
श्री मन्मथनाथ गुप्त की अन्य पुस्तकें

१—गृहयुद्ध—क्रान्तिकारी उपन्यास

२—जिच—१९४२ पर अवलम्बित उपन्यास

३—सुधार—मनोवैज्ञानिक उपन्यास

४—अनिरुद्ध—क्रान्तिकारी जीवन पर ट्रेजेडी मूलक उपन्यास

५—दुश्चक्र—मजदूर क्रान्ति का उपन्यास

६—सेक्स से सुख और जीवन—सेक्स का दर्शन और विज्ञान

७—बँगला के आधुनिक कवि—समालोचनात्मक परिचय

८—प्रेमचन्द्र—जीवनी तथा आलोचना

९—शरतचन्द्र—जीवनी तथा आलोचना

१०—अपराध—लोग क्यों अपराध करते हैं

११—जययात्रा—हिन्दू मुस्लिम झगड़े पर उपन्यास

१२—क्रान्तियुग—क्रान्ति युग की रोमांचकारी बातें

१३—भारत में सशस्त्र क्रान्ति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास
—भाग १ व २ (छै साल जब्त थी)

१४—ऐतिहासिक भौतिकवाद—मार्क्सवाद का सार

१५—राष्ट्र और उसका विकास—विश्व का इतिहास

१६—ईश्वरवाद और धर्म—दर्शन

१७—चन्द्रशेखर आजाद—जीवनी